जीव विज्ञान

कक्षा XI-XII की पाठ्यपुस्तक

सम्पादक मंडल

प्रो० एम० आर० एन० प्रसाद (अध्यक्ष)
प्राणिविज्ञान विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय

डा० सी० वी० क्यूरियन
डीन
फैकल्टी ऑफ मेरीन साइंसेज़
कोचीन विश्वविद्यालय
केरल

डा० सी० वी० सुब्रह्मण्यन
वनस्पतिशास्त्र के प्रोफेसर और
जवाहरलाल नेहरू फेलो,
वनस्पतिशास्त्र विभाग
मद्रास विश्वविद्यालय

डा० (श्रीमती) अर्चना शर्मा
वनस्पतिशास्त्र विभाग
कलकत्ता विश्वविद्यालय

डा० अरुणकुमार मिश्र
रीडर, वनस्पतिशास्त्र
विज्ञान एवं गणित शिक्षा विभाग
राष्ट्रीय शिक्षा संस्थान
नई दिल्ली

डा० बी० गांगुली (संयोजक)
प्रोफेसर, जीवविज्ञान
विज्ञान एवं गणित शिक्षा विभाग
राष्ट्रीय शिक्षा संस्थान
नई दिल्ली

डा० आइ० ए० नियाजी
प्राणिविज्ञान विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय
जयपुर

डा० जे० एस० गिल
विज्ञान एवं गणित शिक्षा विभाग
राष्ट्रीय शिक्षा संस्थान
नई दिल्ली

पुनरीक्षक

डा० ओ० एस० रेड्डी
आनुवंशिकी विभाग
ओस्मानिया विश्वविद्यालय
हैदराबाद

डा० वी० एल० चोपड़ा
आनुवंशिकी विभाग
आइ० सी० ए० आर०
नई दिल्ली

डा० दलबीर सिंह
रीडर, वनस्पतिशास्त्र विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय
जयपुर

लेखक

डा० बी० सी० शाह
अध्यक्ष, प्राणिविज्ञान विभाग
गुजरात विश्वविद्यालय
अहमदाबाद

डा० यू० के० सिनहा
वनस्पतिशास्त्र विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली

प्रो० एच० वाई० मोहनराम
वनस्पतिशास्त्र विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली

डा० एस० एस० भोजवानी
वनस्पतिशास्त्र विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली

डा० आइ० ए० नियाजी
प्राणिविज्ञान विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय
जयपुर

डा० अरुणकुमार मिश्र
रीडर, वनस्पतिशास्त्र
राष्ट्रीय शिक्षा संस्थान
नई दिल्ली

प्रो० (श्रीमती) जी० घोष
वनस्पतिशास्त्र विभाग
क्षेत्रीय शिक्षा महाविद्यालय
भुवनेश्वर

डा० राजेश्वर राव
वनस्पतिशास्त्र विभाग
श्री वेंकटेश्वर विश्वविद्यालय
तिरुपति

डा० जे० एस० गिल
विज्ञान एवं गणित शिक्षा विभाग
राष्ट्रीय शिक्षा संस्थान
नई दिल्ली

कुमारी शुक्ला मजुमदार
रीडर, वनस्पतिशास्त्र,
राष्ट्रीय शिक्षा संस्थान
नई दिल्ली

डा० (श्रीमती) एस० भट्टाचार्य
रीडर, वनस्पतिशास्त्र विभाग
विज्ञान एवं गणित शिक्षा विभाग
राष्ट्रीय शिक्षा संस्थान
नई दिल्ली

श्री प्रेमानंद चंदोला (अनुवादक)
केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय,
नई दिल्ली

जीव विज्ञान

कक्षा XI-XII की पाठ्यपुस्तक

भाग 2

(द्वितीय खंड)

[अनुभाग 2]

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्

प्रस्तावना

यह पुस्तक, कक्षा XI की जीवविज्ञान की पाठ्यपुस्तक का अगला क्रम है। यह पुस्तक जीवविज्ञान के महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों, जैसे कोशिका-जीवविज्ञान, आनुवंशिकी, परिवर्धन जीवविज्ञान तथा मानव कल्याण के लिए जीवविज्ञान का व्यवहार से संबंधित संकल्पनाओं का विवरण देती है। ये समस्त संकल्पनाएँ, विद्यार्थियों के पूर्व ज्ञान के आधार पर विकसित की गई हैं। इसके लेखक जीवविज्ञान के इन क्षेत्रों के विशेषज्ञ हैं। उन्होंने इस बात का पूर्ण प्रयास किया है कि छात्रों को इन विषयों से संबंधित अधुनातन ज्ञान दिया जा सके जिससे उनमें उच्च स्तर की शिक्षा प्राप्त करने की इच्छा जागृत हो।

इस कार्य को अत्यल्प समय में पूरा करने के लिए मैं लेखकों तथा पुनरीक्षकों को धन्यवाद देता हूँ। प्रकाशन की जल्दी के कारण, इस पुस्तक का लेखन, पुनरीक्षण तथा संपादन बहुत ही शीघ्रता में किया गया है। इस कारण, पुस्तक में कुछ त्रुटियाँ रह जाने की आशंका है। ऐसी त्रुटियों को दूर करने के लिए अथवा पुस्तक को अधिक से अधिक उत्तम बनाने के लिए आपके विचारों का हम कृतज्ञतापूर्वक स्वागत करेंगे।

शिवकुमार मित्र
निदेशक
राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्

नई दिल्ली
सितम्बर 1978

आमुख

आज के युग में जीवविज्ञान का विकास अद्भुत गति से हुआ है और मानव-ज्ञान की सभी प्रमुख शाखाओं पर इसका प्रभाव पड़ा है। आशा है, जीवविज्ञान के अध्ययन से भोजन, स्वास्थ्य और आवास आदि की सभी प्रमुख समस्याओं का समाधान हो सकेगा। जीवविज्ञान के गहन अध्ययन के लिए विद्यार्थी को विभिन्न पेड़-पौधों, जीव-जन्तुओं तथा मानव की संरचना और क्रियात्मक संघटना की सही-सही जानकारी प्राप्त करनी होगी। इस विषय की प्रगति के इतिहास और उसके आधुनिक स्वरूप की जानकारी प्राप्त करते समय विद्यार्थी को यह भी सीखना होगा कि उसके दैनिक जीवन में जीवविज्ञान का क्या महत्त्व है और उसे किस प्रकार व्यवहार में लाया जा सकता है। इसके अध्ययन से उसके लिए उच्च शिक्षा एवं विभिन्न व्यवसायों का द्वार तो खुलेगा ही, साथ ही अपने परिवेश की जीव-सृष्टि, उसके प्रक्रमों तथा घटनाक्रम की जानकारी के आधार पर वह जीवन में प्रवेश करते हुए अधिक संतोष अनुभव कर सकेगा।

12 वीं कक्षा की प्रस्तुत पुस्तक उक्त आवश्यकता की ही पूर्ति की दिशा में तैयार की गई है। मैं संपादक-मंडल के सभी सदस्यों, लेखकों, पुनरीक्षकों का आभारी हूँ जिन्होंने इतने थोड़े समय में ही इस कार्य को पूरा किया है। चूंकि इस पुस्तक का लेखन, संशोधन और संपादन बहुत जल्दी में किया गया है ताकि इसका प्रकाशन निर्धारित अवधि के भीतर ही पूरा हो सके, अत: इसमें कुछ कमियाँ रह जाना स्वाभाविक ही है। इन कमियों को आगामी संस्करण में सुधार लिया जाएगा। हम पुस्तक के पाठक-वर्ग के विचारों और सुझावों का हार्दिक स्वागत करते हैं।

प्राणिविज्ञान विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली

एम० आर० एन० प्रसाद
अध्यक्ष
जीवविज्ञान सम्पादक मंडल

विषय-सूची

प्रस्तावना v

आमुख vi

इकाई 2

परिवर्धन जीव विज्ञान (प्राणि विज्ञान)

[शेषांश]

21. भ्रूणीय परिवर्धन के समय की अपसामान्यताएँ 129
22. कैंसर 138
23. पुनर्जनन 142
24. काल प्रभावन (एजिंग) 145

इकाई 3

जीव विज्ञान और मानव कल्याण

25. मानव द्वारा पौधों का घरेलूकरण 151
26. खेती की महत्वपूर्ण फसलें 155
27. पौधों के रोग 161
28. भारत में पौधों के कुछ महत्वपूर्ण रोग 171
29. पौधों के पीड़क (पेस्ट) 184
30. मानव की सेवा में वन 194
31. मानव की सेवा में जंगल के कीट 200
32. पशुधन 203
33. कुक्कुटादि (पोल्ट्री) 207
34. मात्स्यकी (फ़िशरीज़) 210
35. संचरणीय रोग 213
36. सामुदायिक स्वास्थ्य 227
37. असंचरणीय रोग 230
38. मदिरोन्मत्तता और दवाओं का व्यसन 237
39. औद्योगिक सूक्ष्म जीव विज्ञान 242

परिशिष्ट 252

अध्याय-21

भ्रूणीय परिवर्धन के समय की अपसामान्यताएँ

भ्रूणीय परिवर्धन की सारी अवधि खतरों से भरी है। कई कारक है जो परिवर्धन की सामान्य प्रक्रिया को बाधा पहुँचाते व तोड़ते-मरोड़ते हैं। इन गड़बड़ियों से दो प्रकार के परिणाम सामने आ सकते हैं: (i) भ्रूण भ्रूणोद्भव की किसी अवस्था में नष्ट हो सकता है, या (ii) संरचना में और/अथवा कार्य में दोषपूर्ण अपसामान्य संतान का स्फुटन या जन्म हो सकता है। जीवविज्ञान का वह क्षेत्र, जो भ्रूणोद्भव के दौरान अपसामान्य परिवर्धन से सम्बन्ध रखता है **विरूपताविज्ञान** (टिरेटोलॉजी) कहलाता है।

परिवर्धन के दौरान ये अपसामान्यताएँ कई भिन्न-भिन्न कारणों से हो सकती हैं। अब तक की जानकारी के अनुसार ये अपसामान्यताएँ आनुवंशिक (जेनेटिक) कारणों, हानिप्रद बाहरी कारकों अथवा कुपोषण (मालन्यूट्रिशन) के परिणामस्वरूप हो सकती हैं।

(1) आनुवंशिक कारणों से होने वाली अपसामान्यताएँ

इनमें वे दोष शामिल हैं जो गुणसूत्रों की सामान्य संख्या कम या अधिक होने (**गुणसूत्री दोष**) या **जीनउत्परिवर्तन (जीनम्यूटेशन)** के कारण होते हैं। इन कारकों से उत्पन्न होने वाली अधिकांश अपसामान्यताएँ इतनी उग्र होती हैं कि भ्रूण अपना परिवर्धन पूरा करने के पहले ही या तुरन्त बाद मर जाता है। लेकिन कुछ पैदा हो जाते हैं और काफ़ी लम्बे समय तक जिन्दा रहते हैं। यदि ये अपसामान्यताएँ भ्रूण के केवल किसी भाग की कायिक कोशिकाओं में होती हैं तो वे वर्धमान प्राणी के केवल कुछ भाग को ही प्रभावित करती हैं। ऐसी दशा में यह दोष वंशागत नहीं होता और व्यक्ति की मृत्यु के साथ ही गायब हो जाता है।

गुणसूत्री दोष (क्रोमोसोमल एरर) से होने वाली एक जानी पहचानी गड़बड़ी **मंगोलिज्म** है, जिसे **मंगोलकल्प जड़बुद्धिता** (मंगोलॉइड ईडियोसी) भी कहते हैं। इस प्रकार से उत्पन्न व्यक्ति शारीरिक और कार्यशीलता की दृष्टि से जन्मजात जड़बुद्धि (ईडियट) होते हैं (चित्र 21.1)।

चित्र 21.1 : मंगोलिज्म (जन्मजात जड़बुद्धिता)—यानी जनन-कोशिकाओं में गुणसूत्री दोष के कारण परिवर्धन सम्बंधी आनुवंशिक अपसामान्यता वाले लड़कों का समूह।

700 पैदा होने वालों में से लगभग 1 मंगोल होता है और ऐसे उत्पन्न जड़बुद्धि व्यक्तियों की संख्या माता की उम्र के साथ-साथ बढ़ती जाती है।
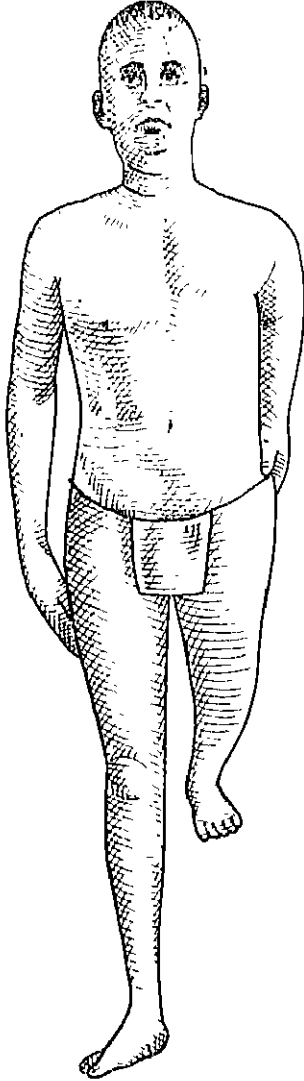
चित्र 21.2 : उपास्थिअविकसन (एकॉन्ड्रोप्लासिया)— यानी परिवर्धन सम्बन्धी आनुवंशिक अपसामान्यता का रोगी। शरीर का दाहिना आधा भाग सामान्य है और बांया आधा भाग बौने का।

संरचना या कार्यशीलता की दृष्टि से होने वाले अनेक दोष **जनन-कोशिकाओं में जीनउत्परिवर्तनों** के कारण होते हैं। यूँ तो उत्परिवर्तन प्राकृतिक रूप से होते हैं लेकिन कृत्रिम रूप से ये एक्स-किरणों (एक्स-रे) द्वारा या उत्परिवर्तजन (म्यूटाजेन) नामक रासायनिक पदार्थों से भी उत्पन्न किए जा सकते है।

मानव में जाने-पहचाने आनुवंशिक दोष ये हैं— **वर्णांधता (कलर ब्लॉइन्डनेस), फटे ओंठ (हेयर लिप), खंड तालु (क्लेफ्ट पैलेट), पाँव फिरा होना (क्लब फूट), हृदय में छिद्र, हाथों, पाँवों, बाहुओं अथवा टाँगों की अनुपस्थिति** आदि (चित्र 21.2, 21.3, 21.4)। जीन-उत्परिवर्तनों के कारण होने वाले कुछ दोष **उपापचय के अंतर्जात दोष** (इनबॉर्न एरर्स ऑफ मेटाबोलिजम) कहलाते हैं। उपापचय के अंतर्जात दोष का एक उदाहरण **फेनिलकीटोनमेह (फेनिलकीटोन्यूरिया)** है। इस दशा में भ्रूण प्रोटीनमय भोजन का उचित रूप से उपयोग नहीं कर पाता और **फेनिलएलानीन** नामक एक अमीनो अम्ल और उसके कुछ व्युत्पन्न (डेरिवेटिव) शरीर के लिए अधिक आविषालु (टॉक्सिक) स्तर तक जमा हो जाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि वृद्धि और मस्तिष्क का परिवर्धन उग्र और स्थायी रूप से मंद पड़ जाता है। लेकिन इस गड़बड़ी का पता आरम्भिक अवस्था में लगाया जा सकता है और नियमित आहार से व्यक्ति सामान्य जिन्दगी जी सकता है। उपापचय की ये अंतर्जात
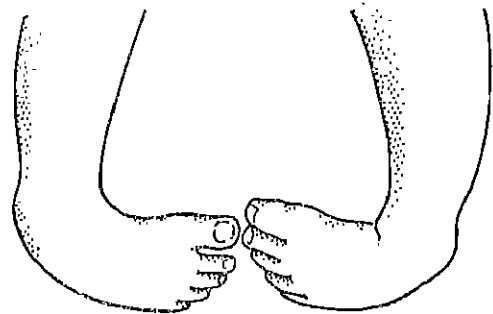
चित्र 21.3 : **पाँव फिरा होना (क्लब फूट)**; जो परिवर्धन सम्बन्धी आनुवंशिक अपसामान्यता है।
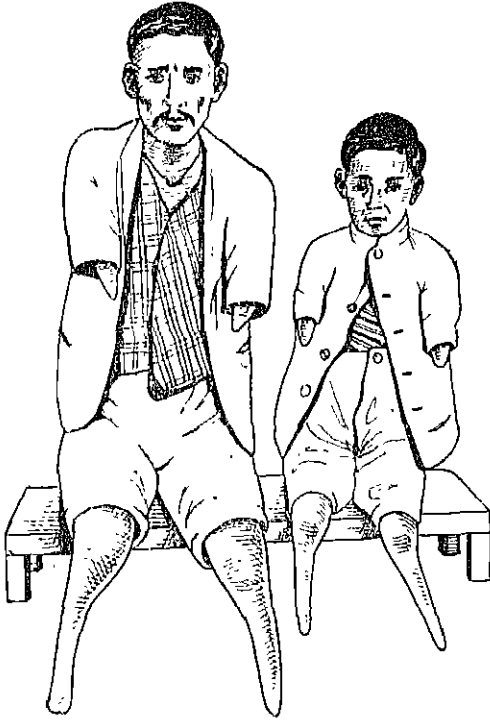
चित्र 21.4 : **मीरोमीलिया या खूंटी-जैसे** पाद, बिना हाथ-पैरों के परिवर्धन की एक आनुवंशिक अपसामान्यता। चित्र में पिता और पुत्र को दिखाया गया है। माता सामान्य थी।

गड़बड़ियाँ कई और भी हो सकती हैं लेकिन आरम्भिक अवस्था में ही उनकी पहचान और तदनुसार उपचार की विधियों को अभी खोजा जाना बाकी है।

(2) बाहरी हानिप्रद कारकों से उत्पन्न अपसामान्यताएँ

भ्रूण या गर्भ पर कई रोगकारी जीव, रासायनिक पदार्थ, दवाएँ, एक्स-किरणें व अन्य विकिरण तथा प्रतिरक्षी (एन्टीबॉडीज) हानिकारक प्रभाव उत्पन्न करते हैं लेकिन ये माता को उतनी अधिक हानि नहीं पहुँचाते। उदाहरण के लिए यदि गर्भवती माता पर जर्मन मीजल्स (रुबेला) का आक्रमण होता है, विशेषकर गर्भावस्था के तीसरे से लेकर बारहवें हफ्ते के दौरान तो इस रोग का वाइरस (विषाणु) गर्भ को भारी नुकसान पहुँचाता है। शिशु में कई गड़बड़ियाँ उत्पन्न हो सकती हैं, जैसे कि अंधापन, बहरापन, छोटे मस्तिष्क के कारण मानसिक कमी, दोषपूर्ण हृदय, फटे ओंठ, खंड तालु, अपसामान्य आंत्र-पथ (इन्टेस्टाइनल-ट्रैक्ट), और स्पाइना बिफिडा अर्थात् मेरुरज्जु और तंत्रिकाओं का खुला रहना। इनकी उग्र दशा में तो शीघ्र ही मृत्यु भी हो सकती है। (चित्र 21.5)। फार्म के प्राणियों में कई वाइरस या विषाणु और बैक्टीरिया या जीवाणु (जैसे संक्रामक गर्भस्राव या ब्रूसेलोसिस; विब्रियोसिस; लेप्टोस्पाइरोसिस), करीब 30% भ्रूणों की मृत्यु तथा गर्भपात करते हैं। मानव में माता के
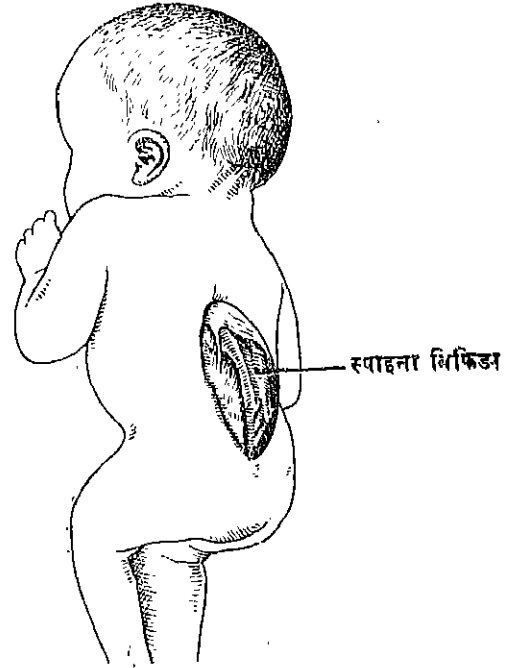
चित्र 21.5 : **स्पाइना बिफिडा** का रोगी (अनावृत मेरुरज्जु और तंत्रिकाएँ)। यह परिवर्धन सम्बन्धी दोष है जो गर्भावस्था में माता के जर्मन मीजल्स द्वारा संक्रमित होने से होता है।

सिफिलिस वाले रोगाणु (जर्म) गर्भ के परिवर्धन के दौरान उस पर असर डालकर मृतजन्म या जन्मजात (कौनजेनाइटल) अपसामान्यताएँ उत्पन्न कर सकते हैं।

गर्भों में कई रसायन भी अपसामान्यताएं उत्पन्न करते हैं। ऐसे पदार्थों में कई उत्परिवर्तनजन आते हैं जैसे—नाइट्रोजन मस्टर्ड तथा ट्रिपैन ब्लू और उपापचयी संदमक (मेटाबोलिक इनहिबिटर), जैसे—अमीनोप्टेरीन तथा ऐन्टी-फोलिक एसिड यौगिक। आरम्भिक गर्भावस्था के दौरान यदि सगर्भ स्त्री प्राणियों को कॉर्टिसोन तथा विटामिन ए सरीखे कुछ हॉरमोन अधिक मात्रा में दिए जाते हैं तो इससे भ्रूण में कई दोष उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसे दोष ये हैं—हाइड्रोसेफैलस (सिर का बहुत अधिक बड़ा होना), **स्पाइना बिफिडा** (द्विशाखित मेरु), **एमेलिया** (बाहु की अनुपस्थिति), **फोकोमीलिया** (टांगों या बाहुओं का न होना और पाँवों तथा हाथों का धड़ से जुड़ा होना), **खंड तालु**, फटे ओंठ आदि। पारे (मरकरी) के विषाक्तन से गर्भ में **प्रमस्तिष्क घात (सेरीब्रल पाल्सी**— मस्तिष्क में हानि पहुँचने से हुआ अगघात) हो सकता है। ऐसा तभी होता है जब गर्भवती स्त्री पारे से संदूषित भोजन करती है। औद्योगिक मल पदार्थों से निकला हुआ यह पारा कभी मानव भोजन में रल-मिल सकता है।

माताओं के द्वारा ली जाने वाली दवाओं विशेषकर गर्भावस्था के पहले बारह हफ्तों में, से भी गर्भ को हानि पहुँच सकती है। इन दवाओं में कुछ ये हैं— मलेरिया के उपचार के लिए ली जाने वाली **क्विनाइन**, ल्यूकेमिया के उपचार के लिए ली जाने वाली **बुसल्फान**, हॉजकिन रोग के उपचार में ली जाने वाली **क्लोरम्ब्यसिल**, गर्भपात के उपचार के लिए ली जाने वाली अमीनोप्टेरिन आदि। थैलिडोमाइड नाम का प्रशान्तक (ट्रैंक्विलाइजर) गर्भवती महिलाओं को गर्भावस्था के चौथे से लेकर सातवें हफ्ते के दौरान कै कम करने के लिए दिया जाता है। लेकिन इसके प्रयोग से भयंकर परिणाम देखने को मिले हैं क्योंकि जर्मनी, इंगलैन्ड, कैनाडा और संयुक्त राष्ट्र अमरीका में इसके कारण हजारों ऐसे बच्चे उत्पन्न हुए जो बिना हाथों और टाँगों के थे (चित्र 21.6)।

एक्स-किरणें और अन्य प्रकार के विकिरण परिवर्धन सम्बन्धी कई गड़बड़ियाँ पैदा कर देते हैं, जो प्रत्यक्ष या
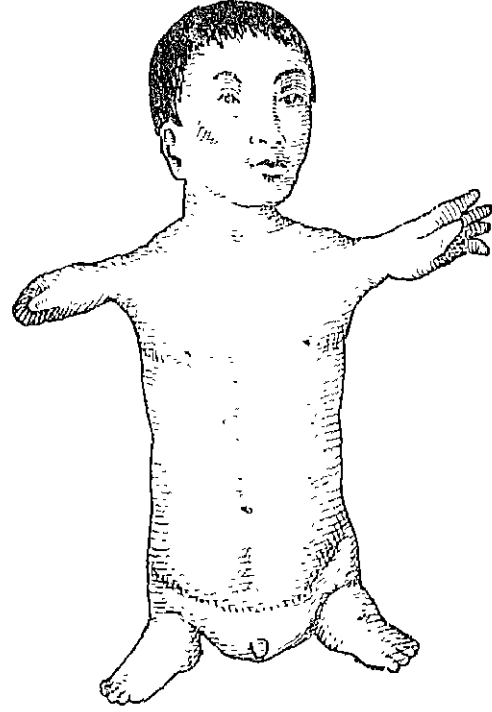
चित्र 21.6 : **फोकोमीलिया** (जिसमें पादों की लम्बी हड्डियों का परिवर्धन नहीं होता और हाथ तथा पाँव धड़ से सीधे ही जुड़े होते हैं) का रोगी। माता द्वारा गर्भावस्था की आरम्भिक अवस्थाओं में थैलिडोमाइड लेने से यह दोष उत्पन्न हुआ।

आनुवंशिक हो सकती है। विकिरणों से गर्भ की जनन-कोशिकाओं पर असर पड़ सकता है। इस प्रकार का नुकसान कई पीढ़ियों के बाद प्रकट हो सकता है जो उत्पन्न होने वाली संतान में एकदम प्रकट नहीं होता। प्रत्यक्ष प्रभावों में वे नुकसान या दोष सम्मिलित हैं जो गर्भ के किसी भाग में होते हैं और जो रोगाणुओं, रसायनों और दवाओं के प्रभावों के समान हो सकते हैं। यदि गर्भवती स्त्री का एक्स-रे लिया जाना है तो विकिरण से बचाने के लिए गर्भ की रक्षा के लिए उसे सावधानीपूर्वक तदनुसार रक्षी आवरण से ढक लिया जाना चाहिए। यह बात ध्यान देने योग्य है कि तरुण कोशिकाएँ, ऊतक

और अंग [illegible]-किरणों तथा अन्य विकिरणों के प्रति बहुत अधिक संवेदनशील होते हैं।

(3) कुपोषण के कारण होने वाला अपसामान्य परिवर्धन

चूहे, खरगोश सरीखे प्रयोगशाला वाले स्तनियों तथा कई अन्य प्राणियों में भी यदि गर्भवती स्त्री को विटामिन ए, बी और डी की कमी वाला भोजन दिया जाए तो इससे बहुत दोषपूर्ण संतान उत्पन्न होती हैं। ऐसे दोष हैं **फटे ओंठ, खंड तालु, स्पाइना बिफिडा, लम्बी हड्डियों, मेरुदंड तथा खोपड़ी के कंकालीय दोष, आँखों के दोष, मस्तिष्क के दोष** आदि। संभवतया मानव में भी गर्भवती माताओं के आहार में इन कमियों से गर्भ को ऐसे ही नुकसान पहुँच सकते हैं। हमारे देश के लिए यह विशेष महत्वपूर्ण है जहाँ काफी प्रतिशत लोगों में कुपोषण का होना यहाँ तक कि प्रायः भूखा रहना आम बात है।

यमज या जुड़वाँ (ट्विन्स)

सामान्यतः कोई स्त्री एक बार में केवल एक शिशु को ही जन्म देती है लेकिन कभी-कभी स्त्री द्वारा एक बार में
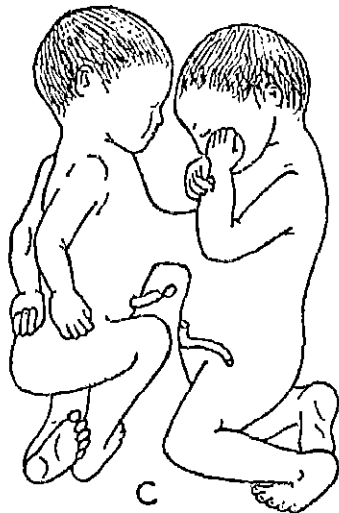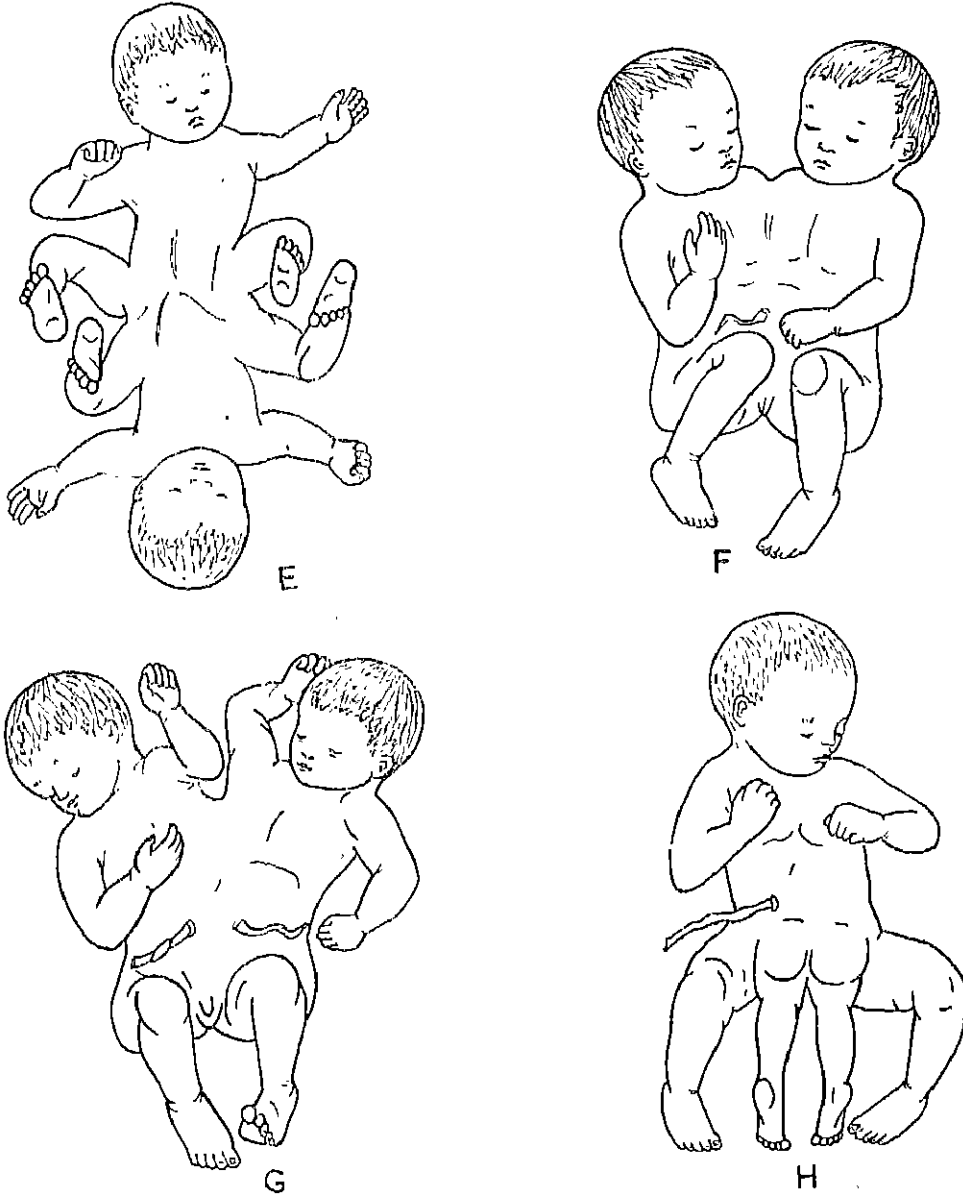
चित्र 21.7 : संयुक्त (कनज्वाइन्ड) यमजों के विविध प्रकार (पृष्ठ 133 पर भी)।

एक से अधिक बच्चे भी उत्पन्न किए जाते हैं। ये **बहु-शिशु जन्म (मल्टिपल बर्थ्स)** के उदाहरण हैं। बहु शिशु जन्म में आमतौर पर बच्चों की संख्या दो होती है और इस तरह साथ-साथ पैदा हुए बच्चे यमज या जुड़वाँ कहलाते हैं। लेकिन यह संख्या 3 (ट्रिप्लेट्स), 4 (क्वाड्रुप्लेट्स) 5 (क्विंटाप्लेट्स) या इससे भी अधिक हो सकती है। कम

से कम एक उदाहरण ऐसा मालूम है जिसमें एक माता से एक बार में 11 बच्चे उत्पन्न हुए । बहु शिशु जन्म या बहु शावक जन्म अन्य प्राणियों में भी होता है । इस तरह पशुओं (गाय, भेड़, बकरी आदि) में, जो सामान्यत: एक बार में एक बच्चा पैदा करते हैं, कुल के लगभग 5% मौकों पर जुड़वाँ पैदा हो सकते हैं ।

यमज या जुड़वाँ आकृति और परिवर्धन में प्राय: पूरी तरह से सामान्य होते हैं । लेकिन कुछ जुड़वाँ बहुत अपसामान्य भी हो सकते हैं । संक्षेप में कहे तो कह सकते हैं कि इनमें हर प्रकार की अपसामान्यताएँ हो सकती हैं । कुछ ऐसे यमजों को संयुक्त यमज (कनज्वाइन्ड ट्विन्स) कहा जाता है । (चित्र 21.7) । ऐसे अधिकांश यमज जिन्दा नहीं रहते और ऐसे संयुक्त यमजों के परिरक्षित नमूने (प्रीजर्व्ड स्पेसीमेन) किसी मेडिकल कालेज या बड़े अस्पताल के म्यूजियम में देखे जा सकते हैं ।

यमज ***एकांडज (मोनोज़ाइगोटिक)*** *अथवा* ***द्विअंडज*** **(डाइज़ाइगोटिक)** हो सकते हैं ।

एकांडज यमज : इस प्रकार के यमज बिल्कुल एक ही अंडाणु से परिवर्धित होते हैं जो निषेचन के बाद युग्मनज (ज़ाइगोट) बनाता है । युग्मनज में विदलन होता है और कोरकपुटी (ब्लैस्टोसिस्ट) बनती है । इस समय कुछ परिस्थितियों के कारण, जिनको अभी पूरी तरह नहीं समझा जा सका है, कोरकपुटी की कोशिकाओं का भ्रूणीय पुंज दो में विभाजित हो जाता है । दोनों भाग एक दूसरे से अलग हो जाते है और इनमें से प्रत्येक एक पूरे काय में परिवर्धित हो जाता है । इन दोनों वर्धमान यमजों का अपरा (प्लैसेन्टा) तो एक ही होता है लेकिन वे उससे जुड़े हुए अलग-अलग रहते हैं (चित्र 21.8) । ये यमज **एकांडज (मोनोज़ाइगोटिक)** कहलाते हैं क्योंकि ये दोनों एक ही युग्मनज से बनी कोरकपुटी के विपाटन (स्प्लिटिंग) से परिवर्धित होते हैं । चूंकि इस प्रकार के यमज एक ही युग्मनज से बनते हैं इसलिए दोनों का आनुवंशिक संघटन बिल्कुल एक ही होता है । यही कारण हैं कि एकांडज यमज हमेशा एक ही लिंग (सेक्स) के होते हैं, लड़के या लड़कियाँ, और दिखने में, ऊँचाई में और यहाँ तक कि व्यवहार में भी ये समान होते हैं, और
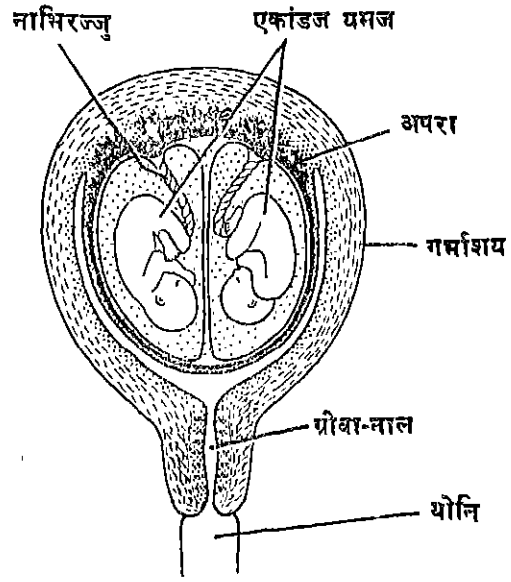
चित्र 21.8 : **एकांडज** या समरूप यमजों के वर्धमान गर्भ ।

इसीलिए इनको समरूप या अभिन्न यमज (आइडेन्टिकल ट्विन्स) भी कहा जाता है ।

द्विअंडज यमज : ये यमज एक ही लिंग (सेक्स) के हो भी सकते हैं और नहीं भी । दिखने, व्यवहार आदि में ये समान नहीं होते और एक दूसरे से सामान्य भाइयों या बहिनों की तरह भिन्न या मिलते जुलते हो सकते हैं, जो कि एक ही जनकों से लेकिन अलग-अलग समय पर पैदा होते है । ऐसे यमजों को सामान्य यमज (फ्रैटर्नल ट्विन्स) कहते हैं । कभी ऐसा होता है कि माता सामान्य रूप से एक अंडाणु के बदले एक बार में दो अंडाणु उत्पन्न करती है । दोनो अंडाणु फैलोपी नलिका में पहुँच कर अलग-अलग निषेचित होकर दो युग्मनज (ज़ाइगोट) बनाते हैं । इन दोनों युग्मनजों में से प्रत्येक एक समूचे व्यक्ति में परिवर्धित होता है । इस तरह सामान्य यमज दो भिन्न-भिन्न युग्मनजों से परिवर्धित होते हैं और इसीलिए **द्विअंडज यमज (डाइज़ाइगोटिक ट्विन्स)** कहलाते हैं (चित्र 21.9) । चूँकि ये भिन्न-भिन्न युग्मनजों से उत्पन्न होते हैं इसलिए अपने आनुवंशिक संघटन में ये भिन्न होते हैं और एक ही लिंग (सेक्स) के हो भी सकते हैं और नहीं भी ।
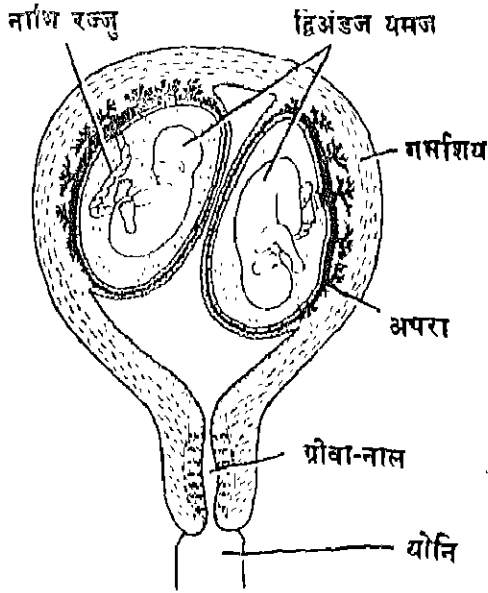
चित्र 21.9 : द्विअंडजी या सामान्य यमजों के वर्धमान (डेवेलपिंग) यमज।

साथ ही ये सामान्य भाइयों व बहिनों की तरह एक दूसरे से भिन्न भी हो सकते हैं और समान भी। अधिकांश बहुयमज (मल्टिपल ट्विन्स), त्रिक (ट्रिप्लेटस), चतुष्क (क्वाड्रुप्लेट्स) आदि द्विअंडज प्रकार के होते हैं क्योंकि इनमें प्रत्येक व्यक्ति एक पृथक युग्मनज से उत्पन्न होता है।

फ्री मार्टिन : इस बात का वर्णन पहले किया जा चुका है कि पशुओं में द्विअंडज यमजों का होना बहुत असामान्य बात नहीं है। यह पाया गया है कि कभी-कभी दो द्विअंडज यमजों के अपरा, जो उन्हें गर्भाशय से जोड़ते है, आपस में एक दूसरे से ही जुड़ जाते हैं। इसके परिणाम-स्वरूप दोनों गर्भों के बीच रुधिर संवहन-संबंध स्थापित हो जाता है और एक का रुधिर दूसरे से मिल जाता है। *यदि ये यमज द्विअंडज होते हैं तो एक गर्भ नर और दूसरा स्त्री होगा।* ऐसी दशा में नर गर्भ का कुछ पदार्थ स्त्री गर्भ में पहुँच जाता है जो स्त्री गर्भ के गर्भाशय में अंडाशयों (ओवरी) और अंडवाहिनियों (ओवीडक्ट्स) का परिवर्धन रोक देता है। इस प्रकार स्त्री गर्भ का लैंगिक परिवर्धन गड़बड़ा जाता है जो कुछ-कुछ नर जैसा दिखते हुए वंध्य (स्टेराइल) रहता है (चित्र 21.10)।
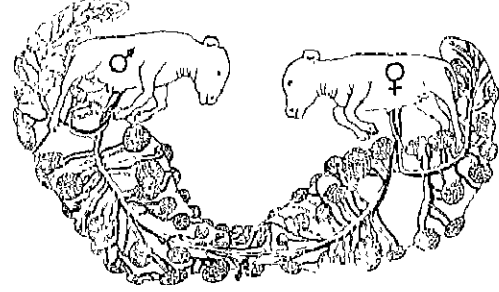
चित्र 21.10 : पशुओं के यमजों में से स्त्री सदस्य का फ्री मार्टिन में परिवर्धन। ऐसा नर तथा स्त्री गर्भों के अपरा की रुधिर वाहिकाओं (ब्लड वेसल्स) के परस्पर मिल जाने से होता है। तीर द्वारा मिलने का स्थल दिखाया गया है।

इस प्रकार की स्त्री को फ्री मार्टिन कहते हैं। फ्री मार्टिन वाली दशा गाय, भेड़, बकरी और सूअरों में पाई जाती है। पशुओं में उन 12 मामलों में से 11 में फ्री मार्टिन पैदा होते हैं जिनमें स्त्री गर्भ द्विअंडज यमज के रूप में नर गर्भ के साथ परिवर्धित होता है।

यह बहुत पहले से पता है कि यदि पशुओं में यमज पृथक लिंगों (सेक्स) के हैं तो मादा नर-जैसी और बंध्य होती है। लेकिन इस प्रकार के यमजों के परिवर्धन की सही खोज और उसका वैज्ञानिक वर्णन 1917 ई० में लिली ने किया।

लिली के अनुसार नर गर्भ का प्रभावी हॉरमोन स्त्री गर्भ के हॉरमोन का संदमन करता है जिससे स्त्री गर्भ का लैंगिक परिवर्धन रुक जाता है और उसे आंशिक रूप से नर-जैसा बना देता है।

अभ्यास

1. उदाहरण सहित समझाओ—(i) मंगोलिज्म, (ii) बहु शिशु जन्म (मल्टिपल बर्थ), (iii) उपापचय के अन्तर्जात दोष ।
2. विरूपताविज्ञान की परिभाषा दो । भ्रूणोद्भव के दौरान अपसामान्य परिवर्धन से मानव शिशुओं में होने वाले छह जन्मजात दोषों को बतलाओ ।
3. समझाओ कि क्यों ?
   (i) *गर्भावस्था के दौरान स्त्रियों को एक्स-रे कराने से बचना चाहिए ।*
   (ii) गर्भवती स्त्रियों को दवाएँ लेने में बहुत सावधान रहना चाहिए ।
   (iii) गर्भवती स्त्रियों के आहार में विटामिन ए, बी और डी की कमी नहीं होनी चाहिए ।
4. भ्रूणोद्भव के दौरान परिवर्तन सम्बन्धी अपसामान्यताओं के तीन कारण क्या हैं ? प्रत्येक पर एक-एक पैरा लिखो ।
5. समरूप (आइडेन्टिकल) और सामान्य (फ्रैटर्नल) यमजों की परिभाषा दो । समझाओ कि मानव में ये कैसे परिवर्धित होते हैं ।
6. लघु टिप्पणियाँ लिखो :
   (i) संयुक्त (कनज्वाइन्ड) यमज,
   (ii) फ्री मार्टिन ।

अध्याय-23

पुनर्जनन (रीजेनरेशन)

इस बात का संकेत पहले भी दिया गया है कि भ्रूणोद्भव (एम्ब्रियोजेनेसिस) के पूरे होने पर परिवर्धन समाप्त नहीं हो जाता। सभी जीवों में कुछ न कुछ सीमा में भ्रूणोत्तर (पोस्ट-एम्ब्रियोनिक) जीवन में भी परिवर्धन क्षमताएँ बनी रहती हैं। डिम्भकीय और प्रौढ़ जीवन के दौरान जीवों द्वारा इनके कारण खोयी व क्षतिग्रस्त संरचनाओं की बदली या मरम्मत की जा सकती है। अपने जीवन के दौरान जीव टूट-फूट से लगातार कई प्रकार की कोशिकाओं और संरचनाओं को खोता रहता है, इसलिए इनकी बदली की निरन्तर आवश्यकता पड़ती है। शरीर को किसी भी प्रकार की क्षति पहुंच सकती है, जो साधारण सतही घाव के रूप में या कुछ ऊतकों के आंशिक अथवा भीषण प्रकार की विनष्टि के रूप में हो सकती है। लेकिन यह क्षति काफी अधिक भी हो सकती है जिसमें किसी अंग की पूरी या आंशिक हानि या शरीर के किसी बड़े भाग तक की हानि भी हो सकती है। यदि आप मेढक के बैंगची (टेडपोल) या घर की दीवारों वाली छिपकली की पूंछ काटें तो पूंछ के बाकी हिस्से मे खोया हुआ भाग फिर से परिवर्धित कर लिया जाता है। पूंछ के इस बचे हुए भाग के फिर से बढ़ जाने को पुनर्जनन (रीजेनरेशन) कहते हैं।

पुनर्जननन की परिभाषा इस प्रकार होगी—**यह जीव के भ्रूणोत्तर जीवन के दौरान खोई या क्षतिग्रस्त संरचनाओं का बदलाव, मरम्मत या पुनः स्थापना की प्रक्रिया है अथवा शरीर के एक छोटे खंड से पूरे शरीर की पुनर्रचना है।**

खोई हुई संरचनाओं का पुनर्जनन करने की क्षमता सभी प्राणियों में कुछ न कुछ होती है, लेकिन कहाँ पर कितना पुनर्जनन हो सकता है इस सन्दर्भ में भिन्न-भिन्न प्राणियों मे अन्तर जरूर होते है। कुछ में जो कुछ गँवाया या क्षतिग्रस्त होता है उसके लगभग पूरे का पुनर्जनन कर दिया जाता है और अन्य में यह क्षमता सीमित होती है।

अपने भ्रूणोत्तर जीवन में विभिन्न प्राणियों की मरम्मत सम्बन्धी पुनर्जननक्षमता भिन्न-भिन्न होती है।

अकशेरुकियों में **केंचुआ** (अर्थवर्म) और कई अन्य **लघुवलयक** या ऐनेलिड प्राणी शरीर के अग्र (अगले) या पश्च (पिछले) सिरे से निकाले गए कुछ खंडों का फिर से निर्माण करने की क्षमता रखते है। कुछ मृदुकवची या मोलस्क प्राणी नेत्र-वृन्तों, आंखों, पैर व सिर के भागों का पुनर्जनन करने की क्षमता रखते हैं। कीटों सहित कई संधिपादों (आर्थोपोडों), **परुषकवचियों** या **क्रस्टेसिया प्राणियों** तथा **मकड़ियों (स्पाइडर)** में पादों का पुनर्जनन कर लिया जाता है। **तारामीन** या **स्टारफिश** और अन्य **इकाइनोडर्म** प्राणियों में भुजाओं का पुनर्जनन कर लिया जाता है। होलोथूरियाई (होलोथूरियन) इकाइनोडर्म प्राणियों में **शारीर** (ऐनाटमी) की एक अजीब परिघटना पाई जाती है। इसमें ये प्राणी खतरे की स्थिति में अपने
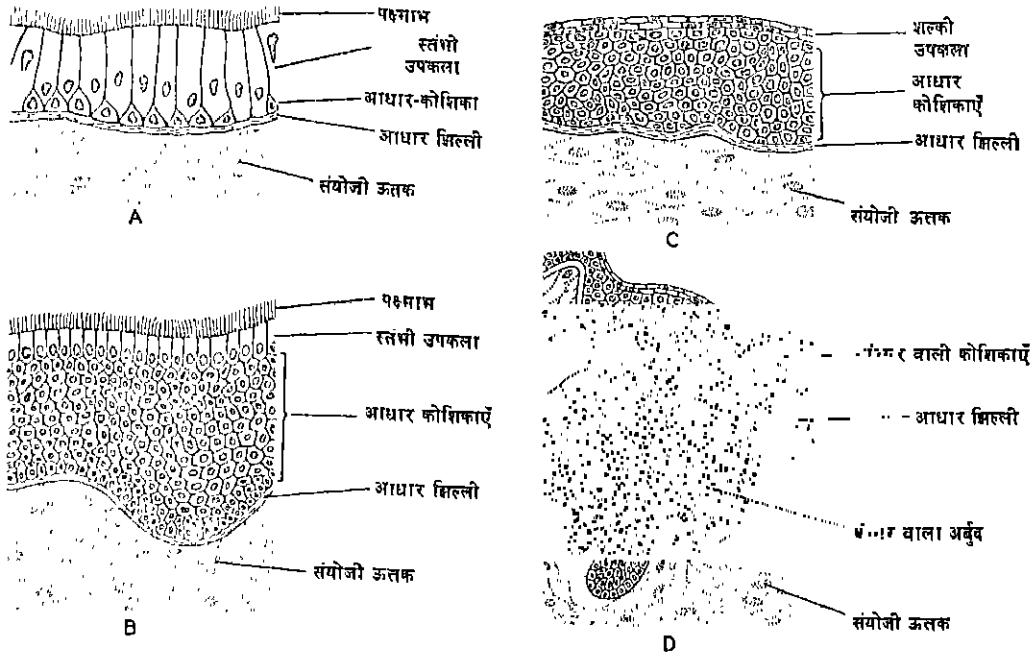
चित्र 22.1 : फेफड़े की उपकला पर धूम्रपान का प्रभाव—(A) सामान्य फेफड़े की उपकला, (B) तथा (C) धूम्रपान करनेवालों में पाई जाने वाली फेफड़े की उपकला में अपसामान्य परिवर्तनों की दो अवस्थाएँ, (D) फेफड़े के ऊतक में वृद्धि करने वाला उपकला का कैन्सरमय अर्बुद ।

है और कहा जाता है कि कश्मीरियों में प्रायः उदर की त्वचा के कैन्सर होने का शायद यही कारण हो । सारे भारत में पान और तम्बाकू चबाना व खाना एक आम बात है, इसलिए अपने देश में मुँह के कैन्सर होने का क्या पता यही कारण हो क्योंकि पान व तम्बाकू से मुख-उपकला (एपिथीलियम) का उत्तेजन होता है । बहुत अधिक धूम्रपान से फेफड़ों का उत्तेजन होता है और इसे फेफड़ों के कैन्सर से सम्बद्ध माना जाता है ।

(2) कई रसायन कैन्सर प्रेरित करते हैं । इन कैन्सरजनी पदार्थों में निकोटिन, कैफीन, कोयले व तेल के जलने से उत्पन्न पदार्थ, कई बहुचक्री (पॉलीसाइक्लिक) हाइड्रोकार्बन आदि तथा कुछ लैंगिक हॉरमोन और स्टेरॉइड सम्मिलित हैं, यदि इन्हें अधिक मात्रा में दिया जाता है या ये अधिक मात्रा में उत्पन्न होते हैं ।

(3) एक्स-किरणें, परा - बैंगनी (अल्ट्रा-वायलेट) किरणें और अन्य आयनकारी विकिरण (आयोनाइजिंग रेडिएशन) ।

(4) **विषाणु या वाइरस ।**

यद्यपि कई रसायन और अन्य कारक कैन्सर उत्पन्न करने में सक्षम होते हैं तो भी इस कैन्सरजनी विशेषता के पीछे क्या कारण और सिद्धांत है वह स्पष्ट नहीं है ।

कैन्सर केवल मानव में ही नहीं होता । यह अन्य कई स्तनियों और निम्नतर कशेरुकियों आदि में होता है, यहाँ तक कि कीटों में भी । कैन्सर वाली रचनाएँ पौधों में भी होती है लेकिन इनमें वे जीवाणुओं यानी बैक्टीरिया के संक्रमण (इनफैक्शन) से होती हैं। बैक्टीरिया द्वारा प्राणियों में कैन्सर होना नहीं पाया गया है ।

कैंन्सर-कोशिकाओं के आधारभूत लक्षण

किसी भी ऊतक की कोई भी कोशिका, जो कि समसूत्रीविभाजन करने में सक्षम होती है, कैन्सर वाली हो सकती है। कैन्सर-कोशिकाएँ सामान्य कोशिकाओं से कई बातों में अलग पहचानी जा सकती हैं, जैसे कि अनियंत्रित समसूत्रीविभाजन में और कोशिकाओं की संरचनाओं तथा उपापचयी प्रक्रिया के परिवर्तन में।

कोशिका-विभाजन द्वारा वृद्धि होना परिवर्धन का सामान्य लक्षण है और अधिकांश ऊतकों में यह जीवन पर्यन्त होता रहता है। यही वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा कोई जीव निरन्तर अपनी पुरानी व जर्जर कोशिकाओं को नई कोशिकाओं से बदलकर अपने ऊतकों को क्रियाशीलता की उपयुक्त दशा में बनाए रखता है। लेकिन सामान्य परिवर्धन भिन्न इसलिए है कि वह *व्यवस्थित और सुसंगठित वृद्धि है।* किसी अवस्था में कोशिका का विभाजन रुक जाता है और कोशिका विभेदन वाली प्रावस्था में आ जाती है। कोशिका-विभाजन का यह नियंत्रण सभी ऊतकों पर खरा उतरता है और जीवन की भ्रूणीय तथा भ्रूण के बाद वाली अवस्थाओं में यह सामान्य परिवर्धन का संलक्षण है। अभी तक स्पष्ट रूप से हमें यह मालूम नहीं है कि कोशिका-विभाजन का नियमन कौन-सा कारक या कौन-से कारक करते हैं, लेकिन यह होता है, यह एक स्थापित तथ्य है।

कैन्सर वाली कोशिकाओं के और सामान्य कोशिकाओं के कोशिका-विभाजन का गुण और विधि एक ही है। सामान्य कोशिकाओं की अपेक्षा कैंसर-कोशिकाएँ धीमी या तेज दर से विभाजित होती हैं। लेकिन कैंसर-कोशिकाएँ अनियंत्रित रूप में विभाजित होती हैं, जिनका परिणाम यह होता है कि कैंसर कोशिकाएँ बहुत अधिक संख्या में उत्पन्न हो जाती है, इसलिए अर्बुद का आकार बढ़ता ही रहता है। लगातार उत्पन्न होने वाली कन्सरमय संतति-कोशिकाएँ (डॉटर सेल्स) कभी विभेदित नहीं होतीं और आस-पास के क्षेत्रों पर आक्रमण करना शुरू कर देती हैं। ये कोशिकाएँ अन्य क्षेत्रों में पहुँचने के लिए अंततः प्राथमिक अर्बुद से अलग हो जाती हैं, और यहाँ भी उनका विभाजन चलता रहता है और फिर द्वितीयक अर्बुद बन जाते हैं।

अंतः कैन्सर की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है—यह **अव्यवस्थित व असंगठित वृद्धि है जिसमें नियंत्रणकारी और नियमनकारी प्रक्रिया गायब या प्रभावहीन हो जाती है।**

इस बात को समझाने के लिए दो संकल्पनाएँ प्रस्तुत की गई है कि एक सामान्य कोशिका कैसे कैन्सर वाली कोशिका में बदल जाती है :

(क) एक संकल्पना के अनुसार कैन्सर अनिवार्य रूप से एक या अधिक गुणसूत्रों में परिवर्तन होने या कायिक (सोमैटिक) कोशिकाओं के केन्द्रकों में जीनउत्परिवर्तन होने के कारण होता है।

(ख) दूसरी संकल्पना के अनुसार यह जरूरी नहीं कि आनुवंशिक (जीनेटिक) परिवर्तन एक अनिवार्य कारक हो। इसके अतिरिक्त कोशिकाद्रव्य (साइटोप्लाज्म) में ही कोई परिवर्तन होता है जिसके परिणामस्वरूप केन्द्रकीय और कोशिकाद्रव्यी विभाजनों पर नियंत्रण समाप्त हो जाता है।

अभ्यास

1. परिभाषा दो : (i) कैन्सरजनी (कार्सिनोजेनिक), (ii) सुदम (बेनाईन) अर्बुद, (iii) कैंसरी-अर्बुद, (iv) दुर्दमता (मैलाइनेन्सी) या कैंसर।
2. बताओ क्यों—

   (i) स्वास्थ्य के लिए अति धूम्रपान हानिकारक है ?

(ii) कश्मीरियों में उदरीय त्वचा का कैंसर प्रायः अधिक होता है ?
(iii) पान और तबाकू चबाने की आदत हानिकारक है ?

3. विविध कैंसरजनी कारकों के नाम बताओ ।
4. कैंसर वाली कोशिकाओं की मूलभूत विशेषता क्या है जिससे वे सामान्य कोशिकाओं से भिन्न होती हैं ?
5. समझाओ कि एक सामान्य कोशिका किस प्रकार कैंसर-कोशिका में बदल जाती है, और इस प्रसंग की क्या संकल्पनाएँ हैं ।

अध्याय-22

कैन्सर

दुर्दमता (मैलाइनेन्सी) या कैन्सर एक प्रकार का अपसामान्य परिवर्धन है, जो प्रौढ़ जीवन के दौरान होता है और सामान्य कोशिकाओं को कैन्सर-कोशिकाओं में बदल देता है। कैन्सर एक प्रकार का अर्बुद (ट्यूमर) है जिसका अर्थ है कुछ कोशिकाओं के असीमित और निरंतर विभाजन के कारण किसी ऊतक की अपसामान्य वृद्धि या विवर्धन। इस प्रकार का परिवर्धन प्रायः 35-40 साल की उम्र के बाद होता है लेकिन यह कम उम्र में भी हो सकता है। सामान्यतः कैन्सरी अर्बुद कुछ समय मंद वृद्धि वाले गुप्तकाल (लेटेन्ट पीरियड) से होकर गुजरता है जब कि लक्षण बहुत स्पष्ट नहीं होते। लेकिन बाद मे वृद्धि बहुत तेजी से होती है, प्रायः 50 की उम्र के बाद, और इससे बहुधा व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है।

अर्बुद शरीर की सतह पर या उसके अन्दर कहीं भी परिवर्धित हो सकते हैं। लेकिन सभी अर्बुद कैन्सरी नहीं होते। अर्बुदों के दो सामान्य प्रकार पहचाने गए हैं : (i) सुदम (बेनाइन या नॉन-मैलाइनेन्ट), और (ii) कैन्सर-मय या दुर्दम (मैलाइनेन्ट)

सुदम (बेनाइन) अर्बुद धीरे-धीरे वृद्धि करता है लेकिन यह बहुत बड़ा भी हो सकता है। यह निश्चित रूप से अपने मूल स्थान पर ही सीमित रहता है और शरीर के किसी भी अन्य भाग पर नहीं फैलता। यह कैन्सर उत्पन्न नहीं करता। अधिकांश अर्बुद (ट्यूमर) इसी प्रकार के होते हैं।

कैन्सरमय (दुर्दम) अर्बुद भी पहले पहल तो एक छोटी रचना के रूप में आरम्भ होता है, जैसे कि शरीर में कहीं पर वर्णकित या काले तिल के रूप में या वक्ष में एक छोटे उभार के रूप में। पहले यह धीरे-धीरे वृद्धि करता है लेकिन बाद में बड़ी तेजी से वृद्धि करने लगता है। अन्त में अर्बुद आस-पास के ऊतकों में पेड़ की जड़ों की तरह फैलने लगता है। आखिरी अवस्था तब आती है जब कि अर्बुद की कोशिकाएँ उससे बिखर कर रुधिर या लसीका (लिम्फ) के प्रवाह के साथ शरीर के अन्य अंगों में पहुँच जाती हैं। वहाँ वे जमा होती जाती हैं और द्वितीयक अर्बुदीय रचनाएँ बना देती हैं। यह अवस्था **अपररूपान्तरण (मेटास्टेसिया)** कहलाती है। यह अवस्था घातक होती है जिसमें जल्दी या विलम्ब से व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है

कैन्सर उत्पन्न करने वाले कारक

यद्यपि अभी तक यह स्पष्ट नहीं है कि कैन्सर होने का कारण क्या है लेकिन तब भी अब कई तथ्य ज्ञात हो गए हैं जो कि कैंसर उत्पन्न करने वाले या **कैन्सरजनी (कार्सिनोजेनिक)** हैं। ये निम्नलिखित प्रकार से हैं :

(1) किसी ऊतक में शारीरिक दृष्टि से चिरकारी (क्रोनिक) उत्तेजन (इरिटेशन) कैन्सर का कारण हो सकता है। उदाहरण के लिए, जाड़ों के दौरान कश्मीरी लोग अपने को गर्म रखने के लिए कपड़ों के नीचे उदर के ऊपर जलते कोयलों की अंगीठी (कांगड़ी) रखते हैं। इससे उदर की त्वचा पर निरन्तर उत्तेजन होता रहता

गारे अंतरंग (विसेरा) बाहर फेंक देते हैं और फिर पुनर्जनन कर लेते हैं।

कशेरुकियों में अंगों के पुनर्जनन की सबसे अधिक क्षमता **सैलामैन्डर, ऐक्सोलॉटल सरीखे यूरोडील जलस्थलचरों** (ऐम्फीबियन) में पाई जाती है। ये पाद, पूंछ, जबड़े, आंत्र, बाहरी क्लोम (गिल) और रेटीना का जीवन पर्यन्त पुनर्जनन कर सकते हैं। इनमें से कुछ तो आँख के लैन्स का निर्माण तक फिर से कर सकते हैं। **ऐनूरन जलस्थलचरों**, जैसे कि **मेढक** और भेकों (टोडों) में बैंगची द्वारा पूंछ का फिर से निर्माण कर लिया जाता है। काटने पर पश्च पादों का भी फिर से निर्माण कर लिया जाता है, यदि बैंगची (टेडपोल) काफी तरुण है। ऐनूरा समूह के अधिकांश प्रौढ़ जलस्थलचरों में पादों के पुनर्जनन की क्षमता नहीं होती। **लैम्प्री के ऐम्मोसीट लार्वा** और कुछ छिपकलियों में पूँछ का पुनर्जनन होता है। छिपकलियाँ स्वांगोच्छेदन (ऑटोटॉमी) का प्रदर्शन यानी प्रयोग भी करती हैं। वे शत्रु द्वारा आक्रमण किए जाने पर अपनी पूँछ वहीं छोड़ देती हैं और फिर उसका निर्माण कर लेती हैं। **कुछ मछलियों** और **पक्षियों** में क्रमशः पखों (फिन) तथा चोंचों का पुनर्जनन होता हुआ पाया जाता है।

स्तनियों (मैम्मल्स) में बाहरी भागों का पुनर्जनन नहीं होता लेकिन इन प्राणियों में यकृत् (कलेजा) का पुनर्जनन करने की भारी क्षमता होती है। यदि यकृत के भाग को निकाल दिया जाए तो कोशिकाओं का विभाजन लगातार तब तक होता रहता है जब तक कि मूल बाकी भाग के ऊतक की पूरी पुनर्रचना नहीं हो जाती। लेकिन यकृत् अपनी सामान्य (पुरानी) आकृति में नहीं आ पाता। इसी तरह यदि एक वृक्क या गुर्दे को निकाल दिया जाए तो दूसरा वृक्क आकार में बड़ा होकर खोए हुए वृक्क का भी कार्य करता है। इस प्रकार का मरम्मती पुनर्जनन **क्षतिपूरक अतिवृद्धि (कम्पेनसेटरी हाइपरट्रॉफी)** कहलाता है।

यह (उदाहरण के लिए) मेढक के बैंगची के पाद के पुनर्जनन से भिन्न है जिस में पुनर्जनित भाग आकृति तथा कार्य दोनों में निकाले गए भाग के बिलकुल समान होता है।

मूल शरीर के एक छोटे व अलग किए गए खंड से समूचे भाग की पुनर्रचना करने की क्षमता प्राणियों के केवल कुछ समूहों में ही पायी जाती है; जैसे कि स्पंजों, कुछ सीलेन्टरेट प्राणियों, चपटे कृमियों, नेमर्टिन कृमियों तथा एसीडियन प्राणियों में। हाइड्रा में पुनर्जनन की क्षमता की खोज सबसे पहले 1742 ई० में ट्रेम्ब्ले द्वारा की गई। यदि आप हाइड्रा या प्लैनेरिया (चपटाकृमि) को अनुप्रस्थ प्रकार से दो या अधिक भागों में काटें तो इनमें से प्रत्येक भाग एक पूर्ण जीव में परिवर्धित हो जाता है। (चित्र 23.1,23.2)। ऐसे अनेक प्राणियों में विखंडन और पुनर्जनन अलैंगिक जनन का सामान्य प्रकार है।
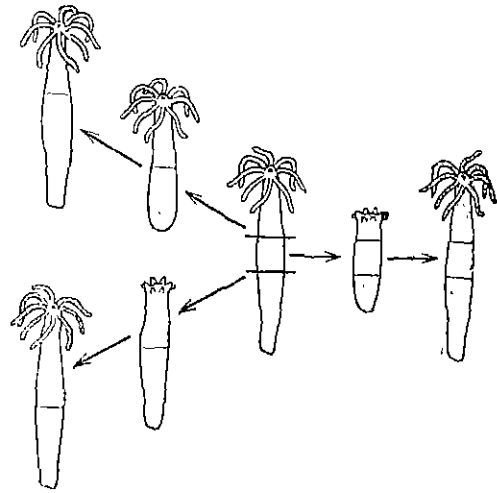
चित्र 23.1 : हाइड्रा में पुनर्जनन (रीजेनरेशन)।

कई बातों में पुनर्जनन की प्रक्रिया भ्रूणीय परिवर्धन की प्रक्रिया के समान है। भ्रूणीय परिवर्धन में पुनर्जनन से कोशिका-विभाजन, कोशिका की गतियाँ, कोशिकाओं व ऊतकों के विभेदन तथा रूप परिवर्धन अथवा संरचना विकास की प्रक्रियाएँ सम्बद्ध हैं। पुनर्जनन में कोशिकाएँ भली प्रकार से बने ऊतकों की पहले से ही विभेदित व विशेषीकृत कोशिकाओं के वि-विभेदन (डी-डिफरेंसिएशन) की प्रक्रिया से उत्पन्न होती हैं। पुनर्जनन क्रियाशील प्रौढ़ या डिम्भक के शरीर में होता है और शरीर में विद्यमान हॉरमोनी कारक और तंत्रिक कारक (न्यूरल फैक्टर) पुनर्जनन को प्रभावित ही नहीं करते बल्कि ये उसको संपन्न करने के लिए भी जरूरी हैं।
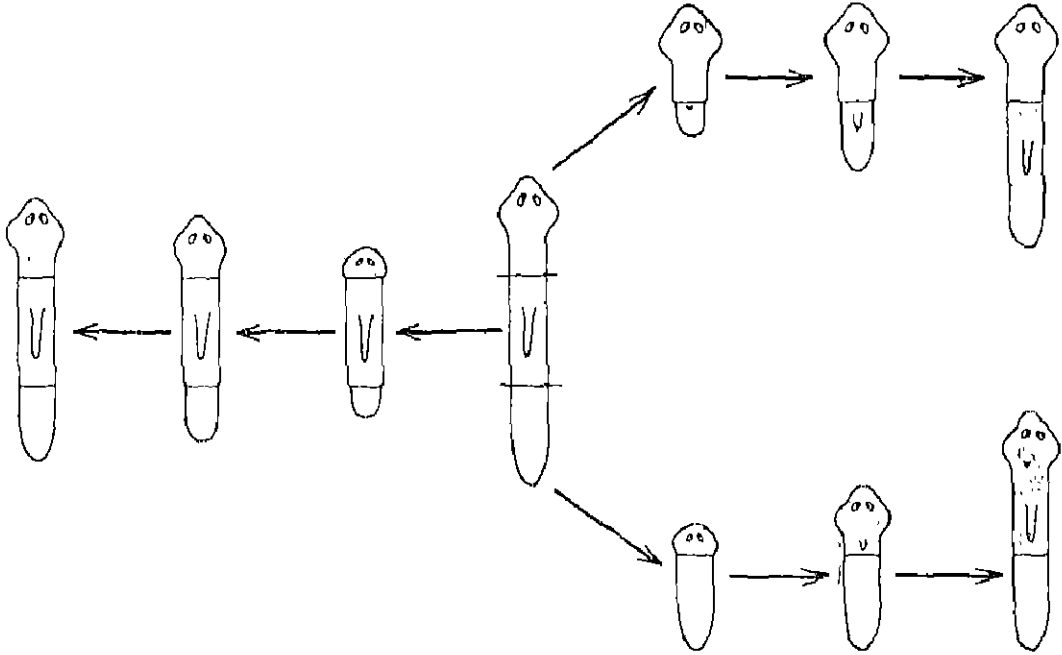
चित्र 23.2 : प्लैनेरिया नामक चपटे कृमि में पुनर्जनन ।

अभ्यास

1. पुनर्जनन (रीजेनरेशन) की परिभाषा दो। पुनर्जनन और भ्रूणोद्भव के दौरान की परिवर्धन सम्बन्धी प्रक्रियाओं में जो समानताएँ और असमानताएँ हैं, उनका विवेचन करो।
2. विभिन्न प्राणियों में पुनर्जनन की क्षमता के वितरण पर संक्षेप में प्रकाश डालो ।
3. लघु टिप्पणियाँ लिखो :
   (i) वि-विभेदन (डी-डिफरेंसिएशन) ।
   (ii) प्र मुकुल या ब्लैस्टीमा ।
   (iii) क्षतिपूरक अतिवृद्धि ।
   (iv) स्वांगोच्छेदन (ऑटोटामी) ।

अध्याय-24

कालप्रभावन (एजिंग)

विभिन्न जीवों में औसत जीवन अवधि भिन्न-भिन्न होती है। कुछ बहुत कम समय तक जीते हैं तो कुछ कई दशकों या सदियों तक जीवित रहते हैं। लेकिन ऐसा कोई जीव नहीं है जो हमेशा ही जिन्दा रहे। कोई जीव भले ही दुर्घटना ग्रस्त न हो, किसी परभक्षी (प्रीडेटर) द्वारा न खाया जाए या किसी मारक रोग से पीड़ित न हो फिर भी बुढ़ापे के अन्तिम परिणाम के रूप में उसकी मृत्यु होती ही है। जैसे-जैसे कोई जीव अधिक उम्र का होता जाता है, वैसे-वैसे उसकी उपापचय (मेटाबोलिज्म) की क्षमता तथा पुरानी जर्जर कोशिकाओं को बदलने और क्षतिग्रस्त भागों के मरम्मत करने की क्षमता धीरे-धीरे कम होती जाती है। जीवों में कोशिकाओं, ऊतकों और अंगों की कार्य-क्षमता और बाहर के संक्रमण का सामना करने और उसे दूर करने की क्षमता धीरे-धीरे कम होती जाती है। अन्ततः महत्वपूर्ण अंग—जैसे कि हृदय, वृक्क (गुर्दे), मस्तिष्क अथवा यकृत् आदि बिल्कुल कार्य करना बन्द ही कर देते हैं जिसके फलस्वरूप शरीर के अन्य भागों की मृत्यु के साथ ही जीव की भी मृत्यु हो जाती है। उम्र बढ़ने के साथ-साथ जो परिवर्तन दिखलाई देते हैं उन्हें ही मिले-जुले रूप में **कालप्रभावन** (एजिंग) कहते हैं जो सभी जीवों में होते हैं और जिनका परिणाम होता है अंत में मृत्यु।

वयोवृद्ध होने या कालप्रभावन(एजिंग) की परिभाषा इस तरह की जा सकती है—वह प्रक्रिया, जिसमें जीव की उम्र अधिक होने के साथ-साथ उसकी कोशिकाओं, ऊतकों व अंगों की संरचना और कार्य में दिन-ब-दिन अवनति होती जाती है। परिवर्धन सम्बन्धी वह क्षेत्र जो कालप्रभावन की प्रक्रियाओं के अध्ययन से सम्बद्ध होता है **(जीरन्टोलॉजी)** कहलाता है।

कालप्रभावन के लक्षण

मानव में कालप्रभावन के लक्षणों से हम सभी परिचित हैं, जिनमें से कुछ को हम यहाँ उदाहरणों के रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं। 30 वर्ष के व्यक्ति की अपेक्षा 70 वर्ष के व्यक्ति में हृदय प्रतिमिनट केवल 65% रुधिर पम्प करता है और मस्तिष्क तथा वृक्कों को जाने वाले रुधिर में क्रमशः 80% और 42% की कमी हो जाती है। 20 साल की उम्र में रुधिर फेफड़ों से प्रति मिनट करीब 4 लिटर ऑक्सीजन लेता है लेकिन 75 साल की उम्र में इतने समय में रुधिर करीब 1.5 लिटर ऑक्सीजन ही लेता है। उम्र के साथ-साथ वृक्क-नलिकाओं की संख्या करीब आधी और जीभ में स्वाद-कलिकाओं (टेस्ट बड्स) की संख्या तरुण मानव की अपेक्षा करीब एक तिहाई हो जाती है। अस्थि-मज्जा (बोन मैरो) से नए रक्ताणुओं (एरिथ्रोसाइट) का उत्पादन कम हो जाता है, कोशिकाएँ पानी रोक रखने में कम से कम सक्षम होती जाती हैं, रुधिर का आयतन कम हो जाता है और ऊतक सूखने लगते है। इसका परिणाम यह होता है कि वृद्ध व्यक्ति में चमड़ी सूखी व झुर्रीदार, पेशियाँ ढीली व झुर्रीदार, हड्डियाँ भंगुर

(ब्रिटल), रुधिर परिवहन कम, मूत्र का बनना कम और शरीर दुबला, निस्तेज और झुका हुआ होता जाता है। उम्र बढ़ने के साथ-साथ अन्य प्राणियों में भी इसी तरह के परिवर्तन होते है ।

कालप्रभावन के बाहरी लक्षण भी प्रकट होने लगते हैं जिनका पता आसानी से लगाया जा सकता है। ये परिणाम कोशिकाओं के अन्दर और उनके बाहर शरीर के ऊतकों में अंतराकोशिक अवकाशों (इंटरसेल्युलर स्पेस) में होने वाले परिवर्तनों के कारण होते हैं और इनकी खोज करना आसान नहीं है । उम्र बढ़ने के साथ-साथ कई प्राणियों के विभिन्न ऊतकों में कई कोशिकीय और कोशिकाबाह्य (एक्स्ट्रा सेल्युलर) परिवर्तन देखे गए है।

कोशिकीय परिवर्तन : इनके अंतर्गत शरीर की कोशिकाओं के केन्द्रकों के गुणसूत्री विपथन (एबेरेशन) और जीन-उत्परिवर्तन (कायिक उत्परिवर्तन) हैं, जिनकी वजह से डी०एन०ए० की बनावट को गड़बड़ी पहुँचना जरूरी है। उदाहरण के लिए—चूहों, कुत्तों और मानव में उम्र के साथ-साथ गुणसूत्रों की गड़बड़ियाँ भी बढ़ती जाती हैं। चूहों की यकृत् कोशिकाओं के संदर्भ में पाया गया है कि प्राणी की उम्र बढ़ने के साथ-साथ ऐल्डोलेस नामक एंजाइम अक्रिय होता चला जाता है। साथ ही वृद्ध प्राणियों की कोशिकाओं में दोषपूर्ण प्रोटीनों की मात्रा अधिक हो जाती है। अधिक उम्र वाले प्राणियों की कोशिकाओं में एक वर्णक (पिगमेंट) अधिक मात्रा में जमा होता जाता है, विशेषकर उन ऊतकों में जिनकी कोशिकाएँ जल्दी ही विभाजन करना बन्द कर देती हैं, जैसे कि मस्तिष्क और पेशियों की कोशिकाओं में यह वर्णक संभवतया माइटोकॉण्ड्रिया जैसे पुराने जर्जर अंगकों (ऑर्गेनेल) के अवशेषों का प्रतिनिधित्व करता है।

कोशिकाएँ अवश्य ही कालप्रभावित होती हैं यह पात्रे में (इन विट्रो) संवर्धित की गई मानव-कोशिकाओं के हाल के अध्ययन से प्रदर्शित हो जाता है। यह पाया गया है कि मानव गर्भ के फेफड़ों से ली गई कोशिकाएँ केवल 50 बार विभाजित होती हैं और फिर वे अपना ओज (विगर) खोकर मृत हो जाती हैं। वृद्ध व्यक्तियों की कोशिकाएँ कम बार विभाजित होती हैं। विभिन्न प्रकार की कोशिकाएँ भिन्न-भिन्न समय पर विभाजन करना बन्द करती हैं और लगता है कि उनमें भी भिन्न-भिन्न दरों वाले परिवर्तन होते है ।

कोशिकाबाह्य (एक्स्ट्रासेल्युलर) परिवर्तन : सभी ऊतकों में अन्तराकोशिक अवकाश कोशिकाओं से स्रावित विविध पदार्थों से भरे रहते हैं, जैसे कि पॉलीसैक्काराइड, और कॉलैजेन तथा इलेस्टिन समेत तंतुमय प्रोटीन । इन पदार्थों में आमतौर से पाया जाने वाला पदार्थ कॉलैजेन है, जो शरीर के कुल प्रोटीन अंश का 40%होता है। उम्र सम्बन्धी परिवर्तनों की दृष्टि से कॉलैजेन का अधिक अध्ययन किया गया है और इसके कई गुणों से पता चलता है कि यह कोशिकाओं की कालप्रभावन की प्रक्रिया और शरीर से महत्वपूर्ण रूप से सम्बद्ध हो सकता है ।

तरुण उम्र का कॉलैजेन पारगम्य (परमिएबुल), लचीला और आसानी से विलेय होता है लेकिन उम्र के साथ यह कम पारगम्य, कड़ा और अविलेय हो जाता है जिस कारण कोशिकाओं के लिए उसका हानिकारक होना स्वाभाविक है । आस-पास के कॉलैजेन में इन परिवर्तनों के कारण पदार्थों और ऑक्सीजन का कोशिकाओं में विसरण करना और नाइट्रोजनीय वर्ज्य पदार्थों तथा कार्बन-डाई-ऑक्साइड का उनसे बाहर निकलना कठिन हो जाता होगा । इस प्रकार काल प्रभावित कॉलैजेन के कारण होने वाले यांत्रिक अवरोध के फलस्वरूप कोशिकाओं से बाहर व भीतर होने वाले विसरण की कमी से ही महत्वपूर्ण अंगों समेत विभिन्न ऊतकों की कोशिकाओं में अवनति और काल प्रभावन होने लगता है ।

काल प्रभावन सम्बन्धी सिद्धान्त : किसी प्राणी में काल प्रभावन होना ही क्यों चाहिए ? कुछ प्राणी क्यों अधिक तेजी से काल प्रभावन करते हैं और अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा उनकी जीवन अवधि छोटी क्यों होती है ? एक ही व्यक्ति में विभिन्न प्रकार की कोशिकाएँ और ऊतक भिन्न-भिन्न दरों से क्यों काल प्रभावित होते हैं ? प्राणी की उम्र के साथ-साथ शरीर की अवनति के प्राथमिक कारण क्या हैं ? काल प्रभावन के दौरान होने वाली प्रक्रियाओं और परिवर्तनों के बारे में हमें अभी तक पर्याप्त जानकारी नहीं है, और इन प्रश्नों तथा अन्य ऐसे ही कई प्रश्नों के संतोषजनक उत्तर अभी हमारे पास नहीं

हैं, इसलिए जीरोन्टोलॉजी के क्षेत्र मे अभी और अधिक खोज और अनुसंधानों की अपेक्षा है।

लेकिन इस बीच काल प्रभावन की परिघटना को समझाने के लिए कई सिद्धान्त प्रस्तुत किए गए हैं।

कुछ जीव विज्ञानियों का कहना है कि जीवों के काल प्रभावन का कारण वातावरण में प्रतिकूल परिवर्तन होना है। अन्य वैज्ञानिक इस बात में विश्वास करते हैं कि कालप्रभावन जीव की कोशिकाओं का नैज (इनट्रींजिक) आनुवंशिक लक्षण है। इन दोनों के बीच के सिद्धान्त के अनुसार काल प्रभावन आनुवंशिक कारकों (जीनों) और वातावरण की आपसी प्रतिक्रिया है। उदाहरण के लिए, हम जानते है कि प्राणियों को पालतू बनाने से उनकी जीवन अवधि बढ़ जाती है। एक दूसरे सिद्धान्त के अनुसार उपापचय (मेटाबोलिज्म) की अधिक दर वाली कोशिकाएँ और जीव आपेक्षिक रूप से उपापचयी सक्रियता की कम दर वाली कोशिकाओं और जीवों की तुलना में अधिक तेजी से काल प्रभावित होकर जल्दी मर जाते है।

अभी हाल ही में प्रस्तुत **काल प्रभावन के प्रतिरक्षा (इम्यूनिटी) सिद्धान्त** के अनुसार मानव में अधेड़ अवस्था के बाद थाइमस ग्रंथि का ह्रास और उसका गायब होना ही काल प्रभावन का प्रमुख कारण है। इस ग्रथि के गायब होने के साथ ही बाहरी रोगाणुओं आदि के आक्रमण के प्रति शरीर की रक्षा क्षमता कम हो जाती है और साथ ही शरीर में उत्पन्न दोषपूर्ण, अपसामान्य और हानिकारक कोशिकाओं की संख्या इतनी अधिक हो जाती है कि इससे ऊतकों की उत्तरोत्तर क्षति और नाश होता जाता है।

एक और सिद्धान्त के अनुसार काल प्रभावन या वृद्ध होने के कारण होने वाले प्राथमिक दोष केन्द्रीय तंत्रिका-तंत्र (सेन्ट्रल नर्वस सिस्टम) के कुछ केन्द्रों में प्रकट हो सकते हैं जो अंतः स्रावी ग्रंथियों (एन्डोक्राइन ग्लैन्ड्स) की क्रियाशीलता को उद्दीपित करते हैं। मस्तिष्क से उचित पथ प्रदर्शन के अभाव में ये ग्रंथियाँ ठीक से कार्य नहीं करतीं। हॉरमोनों की कमी से क्रियाशीलता दोषपूर्ण हो जाती है और कई ऊतकों तथा अंगों का काल प्रभावन शुरू हो जाता है। उदाहरण के लिए, मानव समेत कई प्राणियों में लैंगिक हॉरमोनों की कमी से काल प्रभावन के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

यद्यपि काल प्रभावन या वृद्ध होने के प्रत्येक सिद्धान्त के साथ कुछ प्रमाण भी हैं लेकिन कोई भी सिद्धान्त ऐसा नहीं है जिसने सभी जीवों की दृष्टि से इस परिघटना को समझाया हो। अतः सभी प्रकार के जीवों और कोशिकाओं में काल प्रभावन की व्याख्या करने वाला व्यापक सिद्धान्त तभी प्रतिपादित किया जा सकता है जब विभिन्न दशाओं में रहने वाली विभिन्न जातियों की काल प्रभावन की प्रक्रियाओं से सम्बन्धित अधिक से अधिक तथ्य हमारे सामने आएँ।

अभ्यास

1. काल प्रभावन (एजिंग) और जीरोन्टोलॉजी की परिभाषा दो। मानव में काल प्रभावन के क्या लक्षण हैं?
2. काल प्रभावन की प्रक्रिया से सम्बन्धित कोशिकीय और कोशिकाबाह्य परिवर्तन कौन-कौन से हैं?
3. काल प्रभावन को समझाने के लिए प्रस्तुत किए गए विभिन्न सिद्धान्तों का वर्णन करो।
4. थाइमस ग्रंथि, केन्द्रीय तंत्रिका-तंत्र और हॉरमोन काल प्रभावन से किस प्रकार सम्बद्ध होते हैं?

इकाई 3

जीव विज्ञान और मानव कल्याण

अध्याय-25

मानव द्वारा पौधों का घरेलूकरण

मानव-सभ्यता के इतिहास में खेती करने की आरम्भिक अवस्थाएँ विभिन्न क्षेत्रों में मानव के बसने से सम्बद्ध मानी जाती हैं जो उसके खानाबदोश जीवन के बाद ही शुरू हुई। मानव समाज के विभिन्न वर्गों ने जहाँ बोआई शुरू की वे आरम्भिक स्थल मिस्र में नील नदी के इर्द-गिर्द के क्षेत्र, चीन की नदी वाली घाटियाँ और उत्तरी भारत के मैदान थे। ये उपजाऊ क्षेत्र थे और इनमें पानी इतनी बहुतायत से था कि वह फसल उगाने की सारी जरूरतों को पूरा कर सकता था। इन क्षेत्रों में अन्न के प्रचुर उत्पादन ने लोगों को आत्म-निर्भर बना दिया। इसी के परिणामस्वरूप वे सभ्यता के इतने ऊँचे शिखर पर पहुँच सके जिसके अवशेष अभी भी विद्यमान हैं।

भोजन के स्रोतों के रूप में जंगली पौधों से सम्बद्ध मानव का ज्ञान भले ही उसकी शिकार सम्बन्धी आदतों बराबर पुराना हो, लेकिन मानव सभ्यता के आरम्भिक संकेत सिन्धु घाटी (अब पाकिस्तान) में मिलते हैं जो गेहूँ, जौ तथा धान के आपसी सम्बन्धों की साफ तस्वीर प्रस्तुत करते हैं। इतिहासकार इन सभ्यताओं की आयु आज से करीब 5 से 6 हजार साल तक बतलाते हैं। इस बात की कल्पना आसानी से की जा सकती है कि मानव द्वारा अवश्य ही इतने हजार साल पहले कृषि कौशल का विकास किया गया होगा। मध्य एशिया क्षेत्र से निकली आर्य जनजातियाँ, जिन्होंने बाद में इस सभ्यता को प्रभावित किया, कृषि-कौशल—बैल और हल का उपयोग—जानती थीं और अपने पशुओं की व्यवस्था में भी सक्षम थीं। बाद में ये लोग संख्या और संस्कृति दोनों की दृष्टि से उत्तर भारत के मैदानों में और इससे भी और आगे सुदूर दक्षिण तक फैल गए।

इस तरह पूरे देश में विशेष प्रकार का कृषि-भूमि-समाज स्थापित हो गया। गाँव वाले उस भूमि में खेती करने लगे जो पहले राजाओं की थी फिर जमींदारों या अन्य भू स्वामियों की बनी, और लोग उन्हें राजस्व देने लगे जिससे राज्य और अधिकारियों का निर्वाह होता था। बाद में इसी तरह शासकों अथवा गाँव के प्रधानों को विविध सेवाओं के बदले में बढ़इयों, जुलाहों और सुनारों आदि के द्वारा भूमि के छोटे-मोटे लगान दिये जाने लगे। समाज में संपदा की हिस्सेदारी और श्रम-विभाजन की यह स्थापित प्रणाली बन गई, जो सल्तनतों तथा अन्य सामाजिक कारकों के आक्रमणों और परिवर्तनों के प्रति स्थायी साबित हुई।

लेकिन 1921 ई० के बाद आबादी की बढ़ती दर से खाद्य आपूर्ति की माँग उत्तरोत्तर बढ़ने लगी। सन् 1921 और 51 के बीच की अवधि में आबादी की औसत वार्षिक दर में करीब 1.3 से 1.4 प्रतिशत की वृद्धि और गेहूँ व धान सरीखे अन्नों की प्रति हेक्टेयर औसत उपज में कमी होती देखी गई। सन् 1901 में गेहूँ का उत्पादन औसत रूप से 798 कि० ग्रा० प्रति हेक्टेयर था जबकि सन् 1952 में केवल 645 कि० ग्रा०

प्रति हेक्टेयर। इसी तरह धान की उपज 1901 ई० में 1058 कि० ग्रा०/हेक्टेयर थी, जो 1952 ई० में केवल 800 कि० ग्रा०/हेक्टेयर ही रह गई।

भोजन के उपभोक्ताओं की संख्या और अन्न के उत्पादन के बीच की बढ़ती असमानताओं को कम करने के लिए हमारे देश में मिले जुले प्रयत्न आरम्भ किए गए। भले ही आबादी अभी भी अन्धाधुन्ध दर से बढ़ती जा रही है लेकिन पिछले कुछ वर्षों में अन्न की दृष्टि से देश आत्म निर्भर भी बना है।

सन् 1952 की गेंहूँ और धान की क्रमश: 645 कि० ग्रा० और 800 कि० ग्रा० वाली उपज की तुलना में 1971 ई० में गेंहूँ और धान की प्रति हेक्टेयर उपज क्रमश: 1195 कि० ग्रा० और 1074 कि०ग्रा० रही। गेंहूँ और धान के तत्सम्बन्धी वर्तमान आँकड़ों को क्रमश: करीब 1400 और 1800 कि० ग्रा०/हेक्टेयर वाली स्थिति में रखा जा सकता है। यद्यपि मौसम की गड़बड़ी के कारण सन् 1970 वाले दशक के आरम्भ से ही प्रति एकड़ उपज में कमी पायी गयी है फिर भी अन्न के उत्पादन में वृद्धि की बहुत आशा है। इसके लिए सिंचाई वाले कृषि-क्षेत्र में वृद्धि की गई है। फलस्वरूप गहन कृषि को बढ़ावा मिला है और इसी के कारण देश के कई भागों में "हरित-क्रांति" (ग्रीन रीवोल्यूशन) हो पाई। हरितक्रांति में इन बातों का महत्वपूर्ण योग रहा है—(i) फसलों की अधिक उपज वाली किस्मों का विकास और प्रवेश, (ii) देश के विशाल क्षेत्रों में अधिक उपज वाली किस्मों का प्रसार, (iii) पानी और उर्वरकों के अधिक प्रयोग से बहुशस्योत्पादन (मल्टिपल क्रॉपिंग), जिससे उसी खेत में एक साल में आर्थिक लाभ के लिए दो-तीन फसलें उगायी जा सकती है, (iv) रोग और पीड़कों (पेस्ट) के नियंत्रण के लिए फसल रक्षी उपायों का प्रयोग, और (v) अनुसंधान-फार्मों से उपलब्ध वैज्ञानिक कृषि और टैकनोलॉजी का गाँव के किसानों तक स्थानांतरण।

देश में विविध फसलों के सन्दर्भ में भविष्य के तुरंत, प्रयोग के लिए हरितक्रांति के आधार पर निम्नलिखित परियोजना है :

सारणी 25.1

क्षेत्र, उपज और उत्पादन की दृष्टि से सन् 1968-69 वर्ष के आँकड़ों को आधार मानकर सन् 1980-81 के वर्ष के लिए परियोजना के आँकड़े।

	1968-69			1980-81		
	दस लाख हेक्टेयरों में क्षेत्र	उपज कि० ग्रा० प्रति हेक्टेयर	दस लाख टनों में उत्पादन	दस लाख हेक्टेयरों में क्षेत्र	उपज कि० ग्रा० प्रति हेक्टेयर में	दस लाख टनों में उत्पादन
अन्न	99.2	843	83.6	107.00	1389	148.6
दालें	21.3	488	10.4	25.00	44	18.6
तिलहन	14.6	473	6.9	20.0	760	15.2
गन्ना (गुड़ का तुल्यमान)	2.5	4878	12.0	3.2	6875	22.0
कपास (लिन्ट)	7.7	124	0.85	11.5	172	1.98

हाल के कृषि सम्बन्धी अनुसंधान और जानकारी से गाँवों में पहले प्रचलित पारंपरिक विधियों में महत्वपूर्ण परिवर्तन आते जा रहे हैं। भूमि स्वामियों, काश्तकारों, कर्ज देने वाले साहूकारों और स्थानीय कारीगरों के बीच पारंपरिक सम्बन्ध से मुश्किल से ही कोई गाँव आत्म निर्भर इकाई का रूप ले पाता है। अपेक्षित सामग्री, जानकारी तथा कौशल और अन्य क्षेत्रों वाली उपज के आधार पर अब यह बाकी दुनिया से अधिक उन्नत रूप में सम्बद्ध होता जा रहा है। आवश्यक सामग्री तथा उत्पादन सम्बन्धी परिवहन के साथ-साथ अतिरिक्त अन्न आदि के भंडारण और वितरण से अच्छी सड़कों, गोदामों की मरम्मत की उत्तम सुविधाओं आदि की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी है। गाँव के क्षेत्र का सारा नजारा ही बदल रहा है और मुद्रा बाजार की दृष्टि से किसान जो अलग-थलग पड़ जाता था वह परंपरा तोड़ दी गई है। ग्राम्य क्षेत्रों में भी राष्ट्रीयकृत बैंकों की शाखाएँ खुल गई हैं। किसान अब बड़े पैमाने पर बाहरी दुनिया से जुड़ता जा रहा है।

मानव द्वारा पौधों को घरेलू बनाने यानी खेती योग्य बनाने की कथा भारत में उस अवस्था पर पहुँच गई है कि सन् 1970 वाले दशक में ही हम राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में कृषि की प्रमुखता देखते हैं। हमारी आबादी के करीब तीन-चौथाई लोगों को इससे रोजगार मिलता है और राष्ट्रीय आय का आधा इसी से प्राप्त होता है। लेकिन कृषि सम्बन्धी हमारी हाल की सफलताएँ और उपलब्धियाँ भ्रम में डालने वाली बन जाएँगी यदि हम अभी से ही आत्म संतुष्ट हो जाएँगे। प्रत्येक वर्ष 15 लाख अतिरिक्त लोगों के लिए भोजन जुटाने के लिए राष्ट्रीय स्तर पर हमारे प्रयत्न अथक रूप से पूरे जोश-खरोश से चलते रहने चाहिए और निकट भविष्य के लिए इस कार्यक्रम की रूपरेखा निम्नलिखित प्रकार से चलनी चाहिए :

"1. अन्न की अधिक उपज वाली किस्मों का पूरी तरह से दोहन, जिसमें गुणात्मक पहलुओं पर विशेष रूप से ध्यान दिया जाना चाहिए।
2. प्रमुख *व्यापारिक* फसलों की पैदावार के स्तर को बढ़ाने के लिए चुने हुए क्षेत्रों में कृषि के गहन प्रयत्न।
3. सिंचाई की सुविधाओं का निरन्तर विस्तार और सिंचाई की वर्तमान विधियों में सुधार।
4. उर्वरकों, पादप रक्षी पदार्थों, फार्म-मशीनों और उधार सम्बन्धी आपूर्ति की व्यवस्था में विस्तार।
5. उत्पादनकर्त्ता के हक में कृषि विपणन प्रणाली (मार्केटिंग सिस्टम) में सुधार एवं प्रमुख कृषि-उपयोगी वस्तुओं के लिए निम्नतम कीमतों का आश्वासन।"*

लेकिन मानव को सुदूर भविष्य की भोजन सम्बन्धी आवश्यकताओं के लिए एक दूसरे आयाम को भी ध्यान में रखना होगा। अब तक ज्ञात पौधों की करीब साढ़े तीन लाख जातियों (स्पिसीज़) में से केवल कुछ जातियाँ ही भोजन स्रोतों के रूप में इस्तेमाल की जाती हैं और इनमें से केवल एकाध दर्जन जातियों से ही विश्व के खाद्य पदार्थों के 90 प्रतिशत अंश की आपूर्ति हो जाती है। इस सूची को लम्बी बनाने के लिए हमें अपनी खोज जारी रखनी होगी। विश्व के सूखे भागों को प्रयोग में लाने के लिए *कृषि सम्बन्धी अनुसंधानों की आवश्यकता* है, क्योंकि विश्व के वास योग्य क्षेत्र का करीब एक-तिहाई भाग सूखा क्षेत्र ही है। वर्तमान समय में इन क्षेत्रों में केवल लगभग 15 करोड़ लोग रहते हैं। यदि इन क्षेत्रों को हरे-भरे खेतों में बदल दिया जाय तो काफी लोगों का जीवन निर्वाह कराकर उनके रहन-सहन में सुधार लाया जा सकता है और इसकी सफलता तभी है जब विश्व के सभी देशों के सहयोग और मिले-जुले प्रयत्नों से जल-प्रबन्ध-टेकनोलॉजी का समुचित विकास हो।

भूमि पर के सभी पौधों के मिले-जुले जैविक पदार्थ के उत्पादन की अपेक्षा समुद्र के पादप प्लवकों (फाइटो-प्लैंक्टन) के जैविक पदार्थ का उत्पादन कई गुना अधिक होता है। मानव केवल मछलियों और अन्य उन्हीं समुद्री प्राणियों का उपभोग करता है जो इन प्लवकों (प्लैंक्टन) का आहार करते हैं। अतः इस सन्दर्भ में उपयुक्त संसाधन टेक्नोलॉजी का विकास करके खाद्य पदार्थों की कहीं अधिक मात्रा उपलब्ध की जा सकती है। लेकिन वर्तमान समय में समुद्र दिन-ब-दिन अधिक संदूषित होते जा रहे हैं,

*एन० सी० ई० आर० टी०, नई दिल्ली के प्रकाशन 'अवर ऐग्रीकल्चर' (हमारी कृषि), से।

इसलिए इस प्रसंग में इच्छित जानकारी प्राप्त करने के लिए मिले-जुले रूप में तत्सम्बन्धी अनुसंधान और कार्यक्रम की रूपरेखा बनाना आवश्यक है।

अपनी दिनों-दिन बढ़ती जाने वाली आवश्यकताओं की पूर्ति के निमित्त पौधों को खेती योग्य या घरेलू बनाने की इस परियोजना में मानव को अभी बहुत मंजिलें तय करनी हैं। लेकिन यह निश्चित है कि इस क्षेत्र में अभी बहुत अधिक संभावनाएँ हैं।

अभ्यास

1. समझाओ कि पौधों का पालतूकरण या घरेलूकरण विभिन्न सभ्यताओं के आरम्भिक विकास से किस प्रकार सम्बन्धित है ?
2. हमारे वर्तमान कृषि-समुदाय पिछली शताब्दी के कृषि-समुदायों से किस प्रकार भिन्न हैं ?
3. वर्तमान सदी के आरम्भ से आबादी की वृद्धि की दृष्टि से खाद्य उत्पादन के महत्वपूर्ण परिवर्तनों का वर्णन करो।
4. भारत में "हरितक्रांति" के विविध घटकों का उल्लेख करो।
5. मानव की भोजन सम्बन्धी लघुकालीन और दीर्घकालीन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रस्तावित योजना का मूल्यांकन करो।

अध्याय-26

खेती की महत्वपूर्ण फसलें

हमारे देश में 70% से अधिक कृषि-क्षेत्र उन अन्नों के अंतर्गत है जिनमें धान्य, ज्वार-बाजरा और दालें आती हैं।

ये धान्य (गेहूँ, चावल आदि) पौधों के एक ही 'कुल' ग्रैमिनी के अंतर्गत है, और यही 'कुल' मानव को मुख्य रूप से भोजन प्रदान करता है। धान्य या अनाज का दाना फल ही है, जिसमें अंडाशय की सूखी भित्ति (दीवार) उसके अन्दर के एक मात्र बीज के आवरण से जुड़ जाती है। दानों में जमा पदार्थों में मुख्यतया कार्बोहाइड्रेट (प्रमुख रूप से माँड़ या स्टार्च), कुछ प्रोटीन, और अल्प मात्रा में लिपिड, विटामिन और खनिज होते हैं।

धान्य एकवर्षी शाक हैं, जिनमें बेलनाकार तना होता है। पोरियाँ (इन्टरनोड) अधिकांशतया खोखली लेकिन उनको जोड़ने वाली गाँठें (नोड) ठोस होती हैं। अन्य वानस्पतिक लक्षणों के अलावा (देखो भाग 1) इनका प्ररूपी पुष्पक्रम (इनफ्लोरेसेन्स) यानी स्पाइकलेट इनकी विशेषता है जिसमें वृंतहीन या डंठलहीन फूल होते हैं। धान्यों के पुष्पक्रम को आम भाषा में 'बाल' (इयर) कहा जाता है, जिसके आने से शीर्ष वृद्धि (एपिकल ग्रोथ) समाप्त हो जाती है।

सिंचाई, खाद, जुताई सरीखे कृषि-पहलुओं; चयन, संकरण (हाइब्रिडाइजेशन), उत्परिवर्तन (म्यूटेशन) सरीखे सुधार सम्बन्धी पहलुओं; पोषक पदार्थों सम्बन्धी आवश्यकताओं, प्रकाश-संवेदिता, प्रकाशसंश्लेषी दक्षता सरीखे शरीरक्रियात्मक पहलुओं; तथा उपज का निर्धारण करने वाले कारकों और रोगों व पीड़कों के पहलुओं से धान्यों पर बहुत खोजें की गई हैं।

धान्य

धान और गेहूँ के, जो कि विश्व के सबसे महत्वपूर्ण धान्य हैं, शस्यविज्ञानीय (ऐग्रोनोमिक) पहलुओं को नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है।

धान (चावल)

भारत में सभी धान्यों में, धान (**ओरिज़ा सैटाइवा**) सबसे अधिक क्षेत्रफल यानी 3.967 करोड़ हेक्टेयर में लगाया जाता है। इसका वर्तमान वार्षिक उत्पादन 7.5 करोड़ टन है। देश की आबादी के आधे से अधिक लोग मुख्य भोजन के रूप में धान का उपयोग करते हैं। यह एशिया महाद्वीप का सबसे लोकप्रिय भोजन है। एशिया की पानी और नमी वाली जलवायु इस फसल के लिए बहुत ही उपयुक्त है। अब तो सिंचाई की सुविधाओं के प्रसार से पंजाब के मैदानी क्षेत्रों में भी धान की काफी खेती होने लगी है।

यद्यपि देश के करीब सभी भागों में धान लगाया जाता है तो भी उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिमी बंगाल और असम राज्यों में भारत के कुल धान-क्षेत्र का करीब तीन-चौथाई धान लगाया जाता है। देश के सभी भागों में अधिक उपज वाली नई किस्में (वैराइटीज) प्रविष्ट की गई

हैं, जैसे कि कावेरी, टी-141, पद्मा, जया, पंकज, साबरमती, आई आर-8, और जगन्नाथ। इनमें से कुछ लघु अवधि वाली बौनी किस्में हैं, जिनकी उपज क्षमता बहुत अधिक है। इनमें सुचारु रूप से सिंचाई व खाद की व्यवस्था से धान के वार्षिक उत्पादन को और अधिक बढ़ाया जा सकता है।

यद्यपि धान को विभिन्न प्रकार की भूमि में उगाया जा सकता है तो भी इसके लिए सबसे उपयुक्त भूमि मृत्तिका-दुमट है और सबसे अनुपयुक्त भूमि बड़े कणों वाली मिट्टी होती है। पौधों के जीवन-इतिहास के अधिकांश भाग में भूमि को जलमग्न अवस्था में रखा जाता है। इस प्रकार धान एक अर्धजलीय पौधा है।

धान की खेती का मौसम भी विचित्र प्रकार का होता है क्योंकि इसे गर्मी या वर्षा ऋतु की फसल के रूप में बोया जाता है। उत्तरवर्ती मैदानों में एक प्रकार की खेती में जाड़े की ऋतु के मध्य तक कहीं जाकर फसल पक पाती है। इसलिए आज का चलन यह है कि भिन्न-भिन्न ऋतुओं और भिन्न-भिन्न किस्मों की सिफारिश की जाती है। बीजों को या तो सीधे ही छिड़क दिया जाता है या नवोद्भिदों (सीडलिंग) के रूप में उगाकर फिर उन्हें जलमग्न खेतों में रोप दिया जाता है। खेत की अच्छी तरह से तैयारी का मतलब है हल चलाकर खूब जुताई करना।

धान की गहन कृषि में इसके अलावा उर्वरकों और खाद की अधिक मात्रा डाली जाती है और साथ ही रोगों और पीड़कों के संक्रमण से फसल को मुक्त रखने के लिए पादप रक्षण के उपयुक्त उपाय भी अपनाए जाते है।

यद्यपि बोआई और फसल की कटाई हाथ से ही की जाती है लेकिन दांवने या थ्रेशिंग के लिए अब मशीनों का अधिक से अधिक उपयोग किया जा रहा है।

गेहूँ

देश में क्षेत्र और उत्पादन की दृष्टि से धान के बाद गेहूँ (**ट्रिटिकम वल्गेर**) का ही नंबर आता है। इसकी खेती 2.01 करोड़ हेक्टेयर में की जाती है और उत्पादन 2.83 करोड़ टन होता है। भारत में एक दशक की अवधि में गेहूँ का उत्पादन करीब चार गुना बढ़ गया है। गेहूँ के मुख्य उत्पादक राज्य हैं—उत्तर प्रदेश, पंजाब, राजस्थान, मध्यप्रदेश और हरियाणा। इनके अतिरिक्त बिहार, कर्नाटक, महाराष्ट्र आदि राज्य भी काफी मात्रा में गेहूँ का उत्पादन करते हैं। गेहूँ-क्रांति, हरित क्रांति का प्रमुख अंग है। वह रोगरोधी, उर्वरक के प्रति अनुकूल प्रतिक्रिया दिखलाने वाली, मजबूत तने वाली, तथा बौनी किस्मों को प्रविष्ट करने से ही सफल हो पायी। इनके जनक या मूल प्रभव (स्टॉक) को मैक्सिको से आयातित किया गया था।

अपने देश में भारतीय जलवायु और अभिरुचि के अनुकूल किस्मों को उत्परिवर्तन और संकरण के माध्यम से विकसित किया गया है। देश के अन्य प्रदेशों में गहन कृषि की नई तकनीकों से गेहूँ की पूर्ण क्रांति की जा सकती है। इसमें सिंचाई वाले क्षेत्र की कमी एक प्रमुख व्यवरोध है।

गेहूँ की कई नई किस्में हैं, जिनमें कुछ ये हैं—कल्याण सोना, सोनालिका, शरबती, सोनोरा, हीरा, यूपी 301, आर-आर- 21, यूपी 308 और मोती।

गेहूँ सिंचित और असिंचित दोनों क्षेत्रों में उगाया जाता है लेकिन असिंचित क्षेत्र में इसकी औसत उपज काफी कम होती है। रबी की फसल के रूप में, उत्तरी मैदानों में इसको उगाने वाला मुख्य मौसम अक्टूबर से मार्च तक है। पकने में यह लगभग 4-5 महीने लेता है इसलिए इसकी खेती वर्षा ऋतु और गर्मी की ऋतु के बीच में सीमित करके कम कर दी जाती है। असिंचित दशाओं में, जाड़े में एक या दो फुहारों से उपज में काफी अन्तर पड़ जाता है। यदि सिंचाई की सुविधाएँ उपलब्ध हों तो अधिकतम उपज के लिए तीन सिंचाई आदर्श होती है। देशी किस्मों की तुलना में नई अधिक उपज वाली बौनी किस्मों को अधिक उर्वरकों और पानी की जरूरत होती है।

ज्वार-बाजरा आदि (मिलेट्स)

ज्वार (**सौर्गम वल्गेर**), बाजरा या पर्ल मिलेट (**पेन्नीसीटम टाईफाइड्स**) और रागी या फिंगर मिलेट (**एल्यूसाइन कोरकाना**) ही प्रमुख भारतीय मिलेट्स हैं। इनमें ज्वार का प्रथम स्थान है, जिसकी खेती 1.6 करोड़ हेक्टेयर में होती है और जिसकी वार्षिक

उपज 95 लाख टन है। बाजरा या पर्ल मिलेट की खेती 1.16 करोड़ हेक्टेयर क्षेत्र में होती है, और इसका वार्षिक उत्पादन 58 लाख टन है। रागी या फिंगर मिलेट की खेती 1977 में 26 लाख हेक्टेयर में होती थी और उत्पादन 26 लाख टन था। अकेले कर्नाटक राज्य ने ही इसकी खेती से कुल उपज का 30 प्रतिशत उत्पन्न किया और शेष उत्पादन तमिलनाडु, महाराष्ट्र, आंध्रप्रदेश, बिहार और उत्तर प्रदेश से हुआ। बाजरा अपने देश के सूखे भागों की फसल है जो अधिकांशतया राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र, हरियाणा और उत्तर प्रदेश में उगायी जाती है। एच बी 1, एच बी 3 और एच बी 4 हाल की कुछ अधिक उपज वाली किस्में हैं। ज्वार भी देश के सूखे भागों की महत्वपूर्ण फसल है और इसका अधिकांश असिंचित दशाओं में ही उगाया जाता है। सी एच एस 1, सी एच एस 2 और स्वर्ण कुछ अधिक उपज वाली संकर (हाइब्रिड) किस्में हैं।

ज्वार-बाजरा आदि को मानव भोजन तथा पशुओं के भोजन या चारे के रूप में इस्तेमाल किया जाता है। खाए जाने वाले अन्न के रूप में शहर के लोगों में ये लोकप्रिय नहीं हैं और गाँवों में भी गेहूँ और धान के बाद ही इन्हें चाहा जाता है। रागी को शिशु आहार के रूप में संसाधित किया जाता है क्योंकि इसमें बहुत पोषक तत्वों वाले गुण पाए गए है।

दालें

हमारे आहार में दालें प्रोटीन स्रोत के रूप में महत्वपूर्ण हैं। ये शिंबी या सेम कुल की (लेग्युमिनस) फसलें है जो असिंचित भूमि में उगाई जाती हैं। ये धान्य की दो फसलों के बीच में भी बोई जाती है क्योंकि दालों के पौधों की जड़ों में ऐसी ग्रंथिकाएँ या गाँठें (नोड्यूल) होती हैं जो वायु की नाइट्रोजन को स्थिर करके भूमि को उर्वर बना देती हैं, इसी कारण प्रायः इनमें खाद नहीं डाली जाती। अरहर (**कैजेनस कैजन**), चना या बंगाली ग्राम (**साइसर ऐरीटिनम**), उड़द या ब्लैक ग्राम (**फेसिओलस मंगो**), मूँग या ग्रीन ग्राम (**फेसिओलस आरियस**), मसूर या लेंटिल (**लेन्स एस्कुलेन्टा**) हमारे भोजन की महत्वपूर्ण दालें हैं। हाल में सोयाबीन (**ग्लिसाइन मैक्स**) की खेती पर काफी जोर दिया गया है क्योंकि इससे उच्च गुणवत्ता वाला प्रोटीन और तेल प्राप्त होता है।

चना

भारत की दालो मे चना बहुत महत्वपूर्ण है। यूँ तो *यह सारे ही देश में बोया जाता है लेकिन इसकी खेती* का 30 प्रतिशत क्षेत्र उत्तरी भाग में ही है। इसकी फसल के लिए कपास वाली काली भूमि (प्रचुर चिकनी मिट्टी वाली) बहुत अधिक उपयुक्त होती है। कभी-कभी यह मृत्तिका-दुमट या चिकनी मिट्टी वाली दुमट में उगाया जाता है लेकिन कभी भी अन्य किसी प्रकार की भूमि में नहीं। रबी की फसल के रूप में इसे अक्टूबर से दिसम्बर के दौरान बोया जाता है (वर्षा ऋतु के बाद) और भूमि में जो नमी जमा रहती है उसका यह फसल पूरा उपयोग करती है। *यद्यपि इसे बहुधा सूखी दशाओं में ही उगाया* जाता है लेकिन थोड़ी बहुत सिंचाई से फसल की पैदावार में काफी बढ़ोतरी हो जाती है। इसकी उपज 600 कि० ग्रा०/हेक्टेयर से 1600 कि० ग्रा०/हेक्टेयर तक होती है।

चने के पौधे छोटे (30 सेंमी०—50 सेंमी० ऊँचे) होते हैं जो बहुत शाखित होते हैं। पत्तियाँ नीले-हरे रंग की और पिच्छाकार (पिन्नेट) प्रकार की संयुक्त (कम्पाउण्ड) पत्तियाँ होती हैं।

फूल एकल और पत्तियों की कक्षों (ऐक्सिल) में होते हैं (विस्तृत जानकारी के लिए देखो लेग्युमिनोसी कुल, भाग 1)।

बीज के लक्षणों के आधार पर सुस्पष्ट रूप से इसकी कई किस्में हैं और यह पकने पर पीला, हरा, काला या भूरा हो सकता है। बीजों को तलकर या उबालकर खाया जाता है। इन्हें पीसकर आटा या बेसन बनाया जाता है, और देश के विभिन्न भागों में अलग-अलग तरह से मीठे या नमकीन पकवान बनाए जाते हैं। घोड़े के चारे के रूप में भी इसे इस्तेमाल किया जाता है।

तिलहन (ऑयल सीड)

हमारे देश में तिलहन की खेती कुल कृषि क्षेत्र के करीब 10 प्रतिशत क्षेत्र में होती है, लेकिन इसका बहुत कम अंश सिंचाई वाला होता है। तिलहन की फसलें

प्राय: अन्य फसलों के साथ मिलाकर बोई जाती हैं। देश में हमारी वार्षिक आवश्यकताओं की दृष्टि से तिलहनों का उत्पादन कम पड़ता है।

सैफोला (कार्थेमस टिंक्टिओरिअस), विनोला (गोसिपियम हर्वेसियम), मूँगफली (ऐरेकिस हाइपोजिया), तिल (सीसेमम इण्डिकम), नारियल (कोकोस न्यूसिफेरा) तथा हाल में प्रचलित सूरजमुखी (हेलिएन्थस ऐनुअस) और ब्रैसिका कुल की (ब्रैसिका कैम्पेस्ट्रिस) अन्य फसलें तिलहनों की महत्वपूर्ण फसलें हैं, जो भारत में मानव उपभोग के लिए तेल प्राप्त करने के लिए इस्तेमाल की जाती हैं।

मूँगफली (ग्राउण्डनट)

वैसे तो यह मुख्य रूप से उष्णकटिबंधीय फसल है लेकिन इसकी खेती उपोष्ण भागों यहाँ तक कि दुनिया के ठंडे भागों में भी होती है, जहाँ इसके पकने के लिए लम्बी ग्रीष्म ऋतु होती है। भारत में इसकी खेती सभी स्थानों पर होती है, लेकिन तमिलनाडु और महाराष्ट्र इसके महत्वपूर्ण केन्द्र हैं।

इसे सूखी और सिंचित दोनों प्रकार की फसलों के रूप में बोया जाता है, लेकिन 50 सेंमी० से कम वर्षा वाले क्षेत्रों में और बिना सिंचाई के इसकी उपज कम होती है। इसके लिए कुछ बलुई मिट्टी या बलुई-दुमट वाली भूमि उपयुक्त होती है लेकिन अब यह सभी किस्म की भूमि में उगाई जाने लगी है। जल्दी पकने वाली कई किस्मों की खेती हो रही है जो 3 महीने से भी कम समय में तैयार हो जाती है। यह पौधा पैपिलिओनेसी उपकुल के अन्तर्गत है, जो अधिक शाखाओं और भूशायी स्वभाव वाला एक वर्षी (हर्ब) है। इसके फूल (देखो लेग्युमिनोसी कुल, भाग 1 फूल सम्बन्धी विस्तृत जानकारी के लिए) डंठलों पर उपरिभूस्तारी तने (रनिंग स्टेम) के निकट लगे रहते है, जो निषेचन के बाद नीचे मुड़कर भूमि में वहाँ प्रवेश करते हैं जहाँ फली वृद्धि करती और परिपक्व होती है। पकनेपर समूचा पौधा बाहर खींचा जाता है और फलियाँ पृथक कर ली जाती हैं। किस्म और संवर्धन सम्बन्धी दशाओं के अनुसार बिना भूसे वाली फलियों की उपज 800 किग्रा०/हेक्टेयर और 2000 किग्रा०/हेक्टेयर के बीच होती है।

रेशे वाली फसलें (फाइबर क्रॉप्स)

कपास और जूट दो सर्वाधिक महत्वपूर्ण रेशे वाली फसले हैं जो हमारे वस्त्र और जूट उद्योग के लिए कच्चा माल प्रदान करती हैं। अधिकांशतया इन्हें असिंचित दशाओं में उगाया जाता है। हमारी अधिकांश कपास अपनी गुणवत्ता के कारण मोटे कपड़ों के उपयुक्त ही होती है। बढ़िया कपड़ों के लिए लम्बे रेशे वाली कपास का हम अन्य देशों से आयात करते हैं। अपनी कुछ लम्बे रेशे वाली विकसित किस्में सुजाता और हाइब्रिड नं० 4 हैं। कपास देश के मध्य भागों में उगाई जाती है तो जूट असम, पश्चिमी बंगाल तथा बिहार के पूर्वी राज्यों में। भारत में अधिक उपज वाली और उर्वरकों के प्रति अनुकूल अनुक्रिया दिखलाने वाली किस्मों के विकास के लिए गहन अनुसंधान चल रहे हैं।

सब्जी की फसलें

हमारे आहार मे खनिजों और विटामिनों के मुख्य स्रोत सब्जियाँ हैं लेकिन दुनिया के अन्य देशों की अपेक्षा हमारे यहाँ इनकी प्रति व्यक्ति खपत बहुत कम है। खनिज और विटामिन प्रदान करने के अतिरिक्त ये हमें प्रोटीन और कार्बोहाइड्रेट भी देती हैं।

देश के सभी भागों में घरों के इर्द-गिर्द की बगीची बाड़ियों (किचन गार्डन) में विभिन्न प्रकार की सब्जियाँ उगायी जाती हैं, जैसे कि —फूलगोभी, टमाटर, बैंगन, हरी मटर, पत्ता गोभी, शलजम, सलाद (लेट्यूस), हरी सेम, भिंडी, गाजर, प्याज, पालक, क्यूकरबिटेसी कुल की लौकी, कद्दू आदि अनेक सब्जियाँ। इसके अतिरिक्त खेत वाली अन्य फसलों की तरह बड़े प्लाटों में भी इन्हें उगाया जाता है।

सब्जियाँ पौधों के कई अलग-अलग कुलों में आती हैं, जो अपने स्वभाव, खेती के तरीके, मौसम, खाए जाने वाले भागों और नष्ट हो जाने की दृष्टि से आपस में बहुत भिन्न होती हैं। यद्यपि इन सब बातों का वर्णन इस समय यहाँ नहीं किया जा सकता लेकिन फिर भी अधिकांश सब्जियों के बारे में एक सामान्य बात यह है कि अन्न की अन्य फसलों की तुलना में इनमें प्रति पौधा अधिक देखभाल की जरूरत पड़ती है।

फलों की फसलें

सब्जियों की तरह ताजे फलों से भी अपने आहार में विटामिन और खनिज प्राप्त होते हैं लेकिन पत्तीदार या हरी सब्जियों के विपरीत केला, अंगूर, आम सरीखे कई फल अधिक मात्रा वाली शर्करा के स्रोत हैं, इसलिए ये ऐसे भोजन हैं जो अधिक ऊर्जा (एनर्जी) प्रदान करते हैं।

फलों की फसलों के अन्तर्गत चिरस्थायी वृक्ष हैं, जैसे उष्णकटिबंधी तथा उपोष्णकटिबंधी भागों के आम, अमरूद, पपीता, संतरा आदि, और ठंडे भागों के सेब, खुबानी, आडू, प्लम या आलूबुखारा, अंगूर आदि फल। सब्जियों की तरह ये फल वाले पेड़ भी घरों के चारों ओर तथा सड़कों के किनारे कतारों में या बड़े व्यापारिक स्तर पर बगीचों में उगाए जाते हैं। मौसम के बाद फलों व उनके उत्पादों को संसाधित और परिरक्षित करने के कई तरीके हैं, जैसे कि रस निकालकर, डब्बाबन्दी करके, अचार डालकर तथा सुखाकर, जो देश के विभिन्न भागों में खूब प्रचलित हैं।

आम

आम (**मैंगीफेरा इन्डिका**) दुनिया के कई भागों के उष्ण-कटिबंधी और उपोष्णकटिबंधी क्षेत्रों में फलों की एक बहुत लोकप्रिय फसल है। इसके फल गुच्छों में लगते हैं जो किस्म और स्थान विशेष के अनुसार पकने पर विविध प्रकार के रंग, गूदा, स्वाद और सुवास अपना लेते हैं। द्विवर्षी या दोसाला होना आम की सामान्य परिघटना है। इसका अर्थ यह हुआ कि पेड़ की प्रत्येक टहनी में फूलों के शीर्ष गुच्छे दो साल में केवल एक बार ही उत्पन्न होते हैं। प्रति वर्ष प्रत्येक टहनी की कायिक वृद्धि अपनी जनन-वृद्धि के साथ एकांतरण (आल्टर्नेशन) करती है। लेकिन यह जरूरी नहीं कि हर साल सभी शाखाओं या टहनियों की कायिक अथवा जनन-वृद्धि में तुल्यकालिकता (सिनक्रोनाइजेशन) हो। आम में किस्म के सुधार और प्रचारण (प्रोपगेशन) के लिए तने में कलमें लगाना बहुत पुरानी और सामान्य विधि है।

केला

केला (म्यूजा सैपाइन्टम) एक सस्ता फल है जो एक-बीजी पत्तियों (मोनोकोटीलेडनस) के म्यूजेसी कुल में आता है। उष्णकटिबंधी प्रदेशों का यह लोकप्रिय फल है और शीतोष्ण प्रदेशों में मुश्किल से ही उगता है। पौधों की विशेषता यह है कि इनमें भूमि के ऊपर मुलायम व बेलनाकार काय या तना होता है, जिसमें शीर्ष (सिरे) पर पत्तियों को धारण किए रहने वाली पर्णच्छद (लीफ शीथ) होती है। पुष्पक्रम (इनफ्लोरेसेन्स) शीर्ष पर गुच्छे के केन्द्र से निकलता है जिनमें फूल बड़े सहपत्रों (ब्रैक्ट) के कक्षों से उत्पन्न होते हैं। फल सामान्यतया अनिषेकफलन (पार्थनोकार्पी) की रीति से उत्पन्न होते हैं और पकने पर इनकी त्वचा किस्मों के अनुसार पीली, हरी अथवा लाल होती है। प्रचारण वर्धी (वेजीटेटिव) प्रकार का होता है जिसमें भूमिगत (अन्डरग्राउन्ड) तने वाले तरुण पौधों का प्रतिरोपण किया जाता है।

गन्ना

गन्ना (**सैक्केरम आफिसिनेरम**) घासों के कुल के अंतर्गत है और यह अपने देश की सारी शर्करा का स्रोत है। भारत को इस फसल का मूल स्थान माना जाता है, *जहाँ से यह दुनिया के सभी भागों में फैल गया।* मुख्यतया तो यह उष्णकटिबंधी या उपोष्णकटिबंधी फसल है लेकिन कभी-कभी इसकी खेती शीतोष्ण भागों तक भी फैल जाती है। *भारत में यह 20 लाख हेक्टेयर भूमि से अधिक क्षेत्र में* बोया जाता है और यहाँ का कुल उत्पादन दुनिया के किसी भी एक गन्ना उत्पादक देश के उत्पादन से अधिक है। गन्ने का वृद्धि काल 10 महीने से 18 महीने तक चलता है लेकिन भारत में यह वार्षिक फसल के रूप में बोया जाता है जिसकी फसल उत्तरी भागों में जाड़े में काटी जाती है। पाले से इसको बड़ी जल्दी हानि पहुँचती है। गन्ने की खेती की सबसे अच्छी यानी आदर्श जलवायु अपने देश के दक्षिणी भागों में पायी जाती है लेकिन पंजाब, हरियाणा, उत्तरप्रदेश, बिहार और उड़ीसा आदि उत्तरी राज्यों में इसे बहुतायत से बोया जाता है। इसका प्रचारण वर्धी या कायिक भागों से होता है। कक्षीय

(ऐक्सिलरी) कलिकाओं (कलियों) वाले तने के कटे भागों को एक कतार में रोप कर फसल उगाई जाती है। यद्यपि सिंचाई से पैदावार में बहुत सुधार होता है लेकिन गन्ने की खेती अधिकांशतया अभी भी वर्षापोषित दशाओं में की जाती है। शर्करा की उपज तने के ताजा भार के 8 से 10% तक होती है।

अभ्यास

1. अपने देश में उगाए जाने वाले धान्यों का संक्षेप में वर्णन करो।
2. भारतीय मिलेट यानी ज्वार-बाजरा आदि में महत्वपूर्ण कौन है और उन्हें किन दशाओं में बोया जाता है?
3. भारत में दालों को कैसे उगाया जाता है? दाल की फसलों के लिए नाइट्रोजनीय उर्वरकों (फर्टिलाइजर्स) की आपूर्ति की अधिक जरूरत क्यों नहीं पड़ती?
4. आमला और केले में प्रचारण की रीति संक्षेप में बताओ।
5. कुछ महत्वपूर्ण तिलहनों के नाम बताओ और मूँगफली की खेती का संक्षेप में वर्णन करो।
6. धान (चावल), गेहूँ, ज्वार, बाजरा और कपास की कुछ उन्नत या सुधरी किस्मों के नाम बताओ।

अध्याय-27

पौधों के रोग

पौधों के रोगों की जानकारी इतिहास के आदि काल से ही है। बाइबिल तथा यूनानियों व रोमनों की प्राचीन पुस्तकों में अंगमारी (ब्लाइट), आसिता (मिलड्यू) और किट्ट (रस्ट) का उल्लेख तो मिलता है लेकिन इनके कारण के बारे में किसी को पता नहीं था। प्राचीन रोम-वासी रोबिगेस और रोबिगो नामक दो देवताओं का धान्यों के किट्ट रोग से सम्बन्ध मानते थे और इसीलिए इन देवताओं को सन्तुष्ट रखने के लिए वे रोबिगेलिया नामक वार्षिक त्यौहार मनाते थे। संक्रमित खेतों में पशुओं के चरने के कारण होने वाला अर्गट रोग (एर्गोटिज्म) का कारण वहाँ पर व्याप्त बुरी आत्माएँ समझी जाती थीं। इस प्रकार से फैले अंधविश्वासों को दूर करने और गलत सिद्ध करने में वैज्ञानिकों को बहुत अधिक समय लगा।

मानव को यह तो मालूम था कि कई बीमारियाँ संसर्गज (कन्टैजियस) या संक्रामक होती है पर उनका कारण तब तक ज्ञात न हो सका जब तक कि ल्यूवेनहॉक ने सन् 1676 में अपने साधारण अपरिष्कृत सूक्ष्मदर्शी (माइक्रोस्कोप) की खोज करके कोरी आँख से न देखी जा सकने वाली सूक्ष्मजीवों की अदृश्य दुनिया को आँखों के सामने उजागर नहीं कर दिया। ल्यूवेनहॉक वस्त्रों का व्यापारी था और लेन्सों को घिसना उसका शौक या हॉबी थी। उसने "नन्हें सूक्ष्म प्राणियों" (बक्टीरिया, यीस्ट) की खोज की सूचना लन्दन की रॉयल सोसाइटी को दी और इसीलिए उसे आज सूक्ष्मजीवविज्ञान (माइक्रोबायोलॉजी) का जनक कहा जाता है। यद्यपि सूक्ष्मजीवों की खोज सत्रहवी शताब्दी में हुई, तो भी इस बात के स्पष्ट प्रमाण लगभग 200 साल बाद मिले कि रोग विभिन्न सूक्ष्मजीवों द्वारा ही उत्पन्न होते हैं। खास बात यह भी रही कि ये प्रमाण मानव या प्राणि रोगों से प्राप्त नहीं हुए बल्कि पौधों के रोगों के अध्ययन से प्राप्त हुए। इतालवी वनस्पति विज्ञानी मिशेली ने कवकों के बीजाणुओं (स्पोर) के अंकुरण का निरीक्षण किया, फ्रांसीसी कवकविज्ञानी (माइकोलाजिस्ट) टिले (1755) ने गेहूँ के बंट रोग की खोज की, और प्रीवोस्ट (1807) ने कवक और उसके परपोषी (होस्ट) गेहूँ के पौधे में गहरा सम्बन्ध देखा। प्रीवोस्ट ने विशेष रूप से बीजाणुओं के अंकुरण का निरीक्षण करते हुए गेहूँ के तरुण पौधे के अंदर कवक के तंतुओं (हाइफा) को प्रविष्ट होते देखा। लेकिन इन प्रेक्षणों में से किसी पर भी लोगों ने ध्यान नहीं दिया।

सन् 1845 में सारे उत्तरी यूरोप में आलू के पौधों को आलुओं का अंगमारी (पोटेटो ब्लाइट) नामक बीमारी से भारी नुकसान पहुँचा और रातों रात आलुओं के सारे खेत सड़े-गले पौधों के काले ढेर भर रह गए। इसका सबसे अधिक असर आयरलैंड पर पड़ा जिसका प्रमुख आहार आलू ही है। इसके बाद के दो सालों में करीब पाँच

लाख आयरलैंडवासियों की मृत्यु हुई और इतिहास में इस अकाल को आयरलैंड का आलू वाला महाअकाल कहा गया । लेकिन इस अकाल को अप्रत्यक्ष कृपादान कहा जा सकता है क्योंकि इसके कारण लोगों ने जल्दी ही पादप रोगों के महत्व को समझना शुरू कर दिया । भाग्य से इस बीच अच्छे-अच्छे सूक्ष्मदर्शी (माइक्रोस्कोप) उपलब्ध होने लगे और निरीक्षण करके पाया गया कि नष्ट होने वाले आलू के पौधे कवकजाल (माइसीलियम) से भरे पड़े थे। यह कवकजाल रोग का कारण था या रोग का परिणाम, इस सम्बन्ध में फिर विवाद शुरू हुआ, जिसका समाधान किया ब्रिटिश कवकविज्ञानी एम०जे० बर्कले और जर्मन कवकविज्ञानी हेनरिख एन्टन डी बैरी ने । सन् *1861 में उन्होंने इस कवक (फंगस) को* **फ़ाइटोफ्थोरा इनफेस्टेंस** के नाम से पहचाना और इस बात के संतुष्टकारी प्रमाण दिए कि यह कवक आलू के अंगमारी रोग (ब्लाइट) का कारण था न कि रोग का परिणाम। इससे इस बात की स्थापना हो गई कि कवकों से पौधों के रोग होते हैं और इस प्रकार विज्ञान की एक पृथक शाखा यानी पादप रोग विज्ञान (प्लान्ट पैथॉलाजी) का जन्म हो गया ।

सन् 1876-78 के दौरान फ्रांसीसी रसायन विज्ञानी लुई पास्तेर, जर्मनी के तरुण डाक्टर राबर्ट कॉख और ब्रिटिश सर्जन जोसेफ लिस्टर ने सब सन्देहों को दूर करके सिद्ध करके दिखाया कि रोगों के कारण जर्म या रोगाणु हैं। कॉख के प्रयोगों के आधार पर 'कॉख अभिगृहीत' (कॉख पोस्टुलेट) प्रस्तुत किए गए जो आज भी माने जाते हैं क्योंकि इन्हीं के आधार पर मानव, प्राणी या पौधे में होने वाले विशिष्ट रोग और विशिष्ट सूक्ष्मजीव के बीच कारणात्मक सम्बन्ध स्थापित किया जाता है ।

पादप रोग क्या है ? किसी 'रोगी' पौधे को हम स्वस्थ पौधे से कैसे अलग पहचानते हैं ? किसी पौधे को तभी स्वस्थ माना जाता है जब कि सारी शरीरक्रियात्मक प्रक्रियाएँ उसके सभी अंगों और भागों के समन्वित क्रिया-कलापों के अनुसार चलती हैं ।

शरीर क्रियात्मक (फ़िजियॉलॉजिकल) प्रक्रिया में गड़बड़ी पहुँचाने पर पौधा रोगी हो जाता है और उसके आकारिक परिवर्तनों में यह प्रकट हो जाता है । इस तरह रोग के कारण कुछ 'लक्षण' (सिम्पटम) उत्पन्न होते हैं। पौधे की रोगी अवस्था पर भौतिक या बाहरी वातावरण का बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है, जैसे कि भूमि की दशा, नमी, तापमान और अन्य कारकों का। लेकिन इसके विपरीत स्वस्थ पौधा अपने और वातावरण के बीच संतुलन बनाए रखता है ।

सन् 1870 के इर्दगिर्द अंगूरों के चूर्णी आसिता रोग (डाउनी मिल्ड्यू) ने अंगूर के उद्यानों को क्षति पहुँचाकर एक आशंका उत्पन्न कर दी और फ्रांस का वाइन उद्योग सचमुच समाप्त होते होते बचा । बोर्डो विश्वविद्यालय के प्रोफेसर मिलार्डे ने इसी बीच आकस्मिक रूप से "बोर्डो मिश्रण" या बोर्डो मिक्स्चर नामक कवकनाशी (फंगिसाइड) की खोज करके देश को इस दयनीय दशा से उबार लिया। पादप-रोग विज्ञान के इतिहास में यह एक महत्वपूर्ण घटना थी जबकि पौधों के रोगों का रासायनिक नियंत्रण होना शुरू हो गया। लेकिन सन् 1943 में अविभाजित बंगाल में मानवता के इतिहास का एक अभूतपूर्व अकाल पड़ा, जिसमें करीब बीस लाख आदमी मरे । इस अवधि में चावल की कम पैदावार का मुख्य कारण था पत्तियों का भूरा चकत्ता रोग (ब्राउन लीफ स्पॉट) जो हेल्मिथोस्पोरियम ओरिज़ी नामक कवक के कारण फैला । पौधों के रोग विज्ञान सम्बन्धी साहित्य में सन् 1942 की बंगाल की इस पादप महामारी की तुलना सन् 1845 के आयरलैंड के आलू वाले अकाल से की गई ।

इसके फलस्वरूप भारत में पादप रोगों समेत (रोग-विज्ञान) इनके कारणों का भी यानी कवकों का भी गम्भीर अध्ययन (कवकविज्ञान) आरम्भ किया गया और इस सदी के पहले दशक में पूसा (बिहार) में इम्पीरियल (अब भारतीय) कृषि अनुसंधान संस्थान की स्थापना हुई । इस इन्स्टीट्यूट को भारतीय कवकविज्ञान (माइकोलॉजी) और पादप रोगविज्ञान का जनक माना जाता है और ई० जे० बटलर इसका पहला इम्पीरियल माइकोलॉजिस्ट (कवकविज्ञानी) था । उसने इन सब बातों का अध्ययन करके फसलों के कई रोगों के लिए नियंत्रण के उपाय सुझाए जैसे कि अरहर, कपास और तिल की

ग्लानि (विल्ट), ताड़, पान, गन्ना, धान, आलू, मक्का, मूंगफली के रोगों तथा गेहूँ के किट्ट (रस्ट) आदि के नियंत्रण उपाय। उसने "फंगाइ एन्ड डिजीज़ेज इन प्लान्ट्स" (कवक और पौधों के रोग) नामक बहुत महत्व-पूर्ण पुस्तक लिखी। उसके समकालीन कुछ भारतीय पादप रोगविज्ञानी (पैथोलाजिस्ट) भी अपने-अपने कार्य की दृष्टि से प्रसिद्ध थे — आलू के विलंबित अंगमारी (लेट ब्लाइट) रोग के विशेषज्ञ जे० एफ० दस्तूर, ज्वार बाजरा की चूर्णी आसिता (डाउनी मिल्ड्यू) की खोज करने वाले जी०एस० कुलकर्णी, कपास की ग्लानि (विल्ट) तथा गन्ने के कंड (स्मट) के प्रसिद्ध अन्वेषक एस०एल० अजरेकर। सन् 1930 तक भारत में गेहूँ की किट्ट समस्या सम्बन्धी खोज के कारण के०सी० मेहता ने भी अपना नाम प्रसिद्ध कर लिया था। भारत के अन्य सुप्रसिद्ध कवक विज्ञानी और पादप-रोगविज्ञानी ये हैं: बी०बी० मुंडकर, आर०एन० टंडन, टी०एस० सदाशिवन, एस०एन० दास गुप्ता, एम०जे० थिरुमलाचार, सी०वी०सुब्रह्मनियन और एस०पी०राय चौधरी।

बाद में इस संस्थान को नयी दिल्ली लाया गया जो पूसा रोड में स्थित है और पौधों के रोग विज्ञान सम्बन्धी अनुसंधान का सक्रिय केन्द्र है। भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् (इन्डियन काउन्सिल ऑफ ऐग्रीकल्चरल रिसर्च—आई० सी० ए० आर०) के अधीन सारे देश में कई अनु-संधान संस्थान हैं जो पौधों के रोगों के अनेक पहलुओं से सम्बन्धित खोजों में लगे हुए हैं। विशेष बल इसी बात पर दिया जा रहा है कि देश की बढ़ती आबादी के लिए आवश्यक अधिक खाद्य उत्पादन के निमित्त स्वस्थ व रोगमुक्त फसलों को उगाया जाय। पादप-रोगविज्ञान केवल रोग के लक्षणों का ही निरूपण नहीं करता बल्कि उसमें कारणात्मक जीव के जीवन-चक्र या हेतुविज्ञान (ईटियोलाजी), प्रकृति में उसके स्थायीकरण और नियंत्रण विधियों का भी अध्ययन होता है।

अंग्रेजी का "पैथोलॉजी" शब्द ग्रीक भाषा के दो शब्दों "पैथोस" (रोग या पीड़ा) और "लागोस" (व्यक्त करना या वर्णन) से व्युत्पन्न है और इसका पर्याय हिन्दी में भी इसी अर्थ में रोग विज्ञान या विकृति विज्ञान है, जो शब्द का एकदम प्रत्यक्ष बोध करा देता है।

वर्गीकरण

पौधों के रोगों को कई प्रकार से वर्गीकृत किया जाता है: (i) कारणात्मक जीवों या रोगजनकों (पैथोजेन) की प्रकृति के अनुसार, (ii) रोगजनक द्वारा उत्पन्न लक्षणों के आधार पर, (iii) रोग होने की मात्रा के आधार पर, और (iv) प्रकृति में कारणात्मक जीवों की प्राप्ति, स्थायीकरण और संचरण की विधि के अनुसार।

(1) रोगजनक आधार पर वर्गीकरण

रोगजनक या पैथोजेन क्या है?— यह एक कर्त्ता या कारक है जो पीड़ा या कष्ट उत्पन्न करता है और हमेशा रोग से संबद्ध होता है। अंग्रेजी का पैथोजेन शब्द ग्रीक भाषा के **पैथोस** (पीडा या रोग) और **जेनेसिस** (उद्भव या उद्गम) शब्दों से व्युत्पन्न है, और हिन्दी का रोग-जनक शब्द तुरन्त अर्थ की सरल अभिव्यक्ति कर देता है।

ये रोगजनक असंख्य और विभिन्न प्रकार के होते हैं। सामान्यतया इनको **सजीव (ऐनिमेट)**, **विषाणविक (वाइरल)** और **निर्जीव (इनऐनिमेट)** समूहों में वर्गीकृत किया जाता है।

सजीव रोगजनक: स्वभाव में ये प्रायः सूक्ष्मजैविक (माइक्रोबियल) होते हैं। अन्य कुछ प्राणी उद्भव वाले हैं, जैसे कि सूत्रकृमि (निमेटोड) और कीट, जो रोग पैदा करते हैं। सूक्ष्मजैविक रोगजनकों में महत्वपूर्ण भूमिका कवकों की और फिर जीवाणुओं (बैक्टीरिया) की है। **हेल्मिंथोस्पोरियम ओरिज़ी** धान की पत्तियों का भूरा चकत्ता रोग उत्पन्न करता है और **जैंथोमोनास माल्वा-सीएरम** नामक जीवाणु से कपास का **कृष्ण शाखा** (ब्लैक आर्म) रोग होता है। आम की कुरचनाएँ चिचड़ियाओं (माइट) के कारण होती हैं।

विषाणविक (वाइरल) रोगजनक: यह अभी तक समस्या बनी हुई है कि विषाणुओं (वाइरसों) को सजीव माना जाय या निर्जीव। ये कुछ भी हों पर इतना जरूर है कि ये रोग उत्पन्न करते हैं और इसलिए इनको रोगजनक माना गया है और पृथक रूप से इनको यहाँ लिया गया है। विषाणुओं या वाइरसों द्वारा उत्पन्न होने वाले कुछ रोग हैं— मोज़ेक, शिरा स्पष्टता (वीन क्लियरिंग) हरित रोग (क्लोरोसिस) आदि।

निर्जीव रोगजनक : कई रोग ऐसे होते हैं जिनको किसी भी रोगजनक से सम्बद्ध नहीं किया जा सकता। ऐसे रोगों के सामान्य उदाहरण हैं—फूलगोभी का ह्विपटेल रोग और सेब का कच्छु (रोग) या ऐपल स्कैब। फूलगोभी का ह्विपटेल रोग भूमि में मोलिबडेनम की कमी और सेब का कच्छु रोग शीत संग्रहण (कोल्ड स्टोरेज) में श्वसन के कारण सेब के गैसीय उत्पादों के कारण होता है। इस प्रकार के रोगजनक निर्जीव प्रकार के होते है और इनमें रसायन गैस, धुँआ, खनिज पोषक, नमी, तापमान आदि सम्मिलित हैं। वातावरण मे इनकी कमी या बेशी से रोग हो सकता है। धान का महत्वपूर्ण 'खैरा' रोग भूमि में जस्त (जिंक) की कमी के कारण होता है।

(2) लक्षण परपोषी के आधार पर वर्गीकरण

परजीवी की आपसी क्रिया के परिणाम स्वरूप लक्षण उत्पन्न होता है। रोगजनक की वृद्धि परपोषी (होस्ट) की सतह पर प्रायः चूर्णी या रूई-जैसे पुंज के रूप में होती है। अन्य में परपोषी विरूपित या विकृत हो जाते है लेकिन कुछ में परपोषी और परजीवी की आपसी भीतरी क्रिया के कारण सारा पौधा मुरझा जाता है (सिस्टीमिक)। विभिन्न रोगजनकों द्वारा उत्पन्न लक्षण निम्नलिखित है :

(क) आसिता (मिलड्यू) : रोगजनक परपोषी की सतह पर एक सतही रचना के रूप में रहता है। मृदुरोमिल (डाउनी) आसिता के रोगजनक रुईदार मृदुरोमिल रचनाओं और चूर्णी (पाउडरी) आसिता में कवक की सतह पर चूर्ण या चूरे के रूप में दिखलाई देते हैं। उदाहरणतः **स्क्लेरोस्पोरा ग्रेमिनीकोला** द्वारा उत्पन्न होने वाली **पेनीसीटम टायफाइडिस** (बाजरा) की मृदुरोमिल आसिता (डाउनी मिल्ड्यू) या हरी बाली (ग्रीन इयर) तथा अंगूर (**वाइटिस विनिपेरा**) की चूर्णी आसिता (पाउडरी मिल्ड्यू) जो **अन्सिनुला निकेटर** द्वारा उत्पन्न होती है।

(ख) किट्ट (रस्ट) : इसका लक्षण यह है कि देखने में यह जंग जैसा या लाल रंग का होता है। बाह्यत्वचा (एपिडर्मिस) के नीचे स्फोट या छाले जैसी रचनाएँ उत्पन्न होती हैं जो उसे तोड़कर अंत में बीजाणुओं (स्पोर) के समूह को बिखेर देती हैं। ये स्फोट रंग में पीले, लाल, भूरे या काले कुछ भी हो सकते हैं। उदाहरण **पक्सीनिया ग्रेमिनिस ट्रिटिसी** द्वारा उत्पन्न गेहूँ के तने का किट्ट (रस्ट)।

(ग) कंड (स्मट) : कंड या स्मट शब्द का अर्थ है कज्जली या कोयले-जैसा चूर्ण। इस प्रकार के लक्षण अधिकांशतया पुष्पक्रमों (इनफ्लोरेसेन्स) में देखे जाते हैं। पौधे के ग्रस्त भाग काले बीजाणु पुंज में बदल जाते हैं। गन्ने के कंड रोग में, सारा पुष्पी अक्ष काली या भूरी रचना में बदल जाता है, और उसमें यह रोग अस्टिलागो सिटामिनी द्वारा होता है। गेहूँ का श्लथ कंड (लूज स्मट) **अस्टिलागो ट्रिटिसी** द्वारा उत्पन्न होता है।

(घ) सफेद फफोले : तने व पत्तियों पर स्फोट या छाले जैसी रचनाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। ये स्फोट (पुस्ट्यूल) संक्रमित पुष्पक्रमों में ऊपर उठे हुए और चमकदार सफेद रहते हैं। फूल वाले भाग विविध प्रकार से विरूपता या विकृति वाले होते हैं। उदाहरणः **ऐल्बूगो कैंडिडा** द्वारा उत्पन्न होने वाला सरसों कुल के पौधों का सफेद किट्ट (रस्ट)।

(ङ) कच्छु (स्कैब) : इसका अर्थ है सतह पर दिखने वाली पपड़ी। परपोषी पौधे (होस्ट) की सतह व्रण या घावों के कारण रुक्ष यानी रूखी बन जाती है। उदाहरण : पोडोस्फेरा ल्यूकोट्राइका द्वारा उत्पन्न सेब का कच्छु रोग (स्कैब)।

(च) स्क्लेरोशिया : स्क्लेरोशिया कवकतंतुओं (हाइफा) के बड़े व घने पुंज होते हैं जो विभिन्न रोगजनकों द्वारा बनते हैं। रंग में ये बैंगनी, भूरे या काले होते है। उदाहरण : **क्लेविसेप्स परप्यूरिया** द्वारा उत्पन्न राई का अर्गट रोग।

(छ) रिसाव (एक्सूडेशन) : यह एक ऐसा लक्षण है जो जीवाणुओं (बैक्टीरिया) के रोगों से सम्बद्ध होता है। जीवाणु परपोषी के शरीर से बाहर रिस कर निकल आते हैं और परपोषी की सतह पर ये पतली परत या झिलमिलाती बूँदों के रूप में दिखलाई देते हैं। उदाहरणः **जैंथोमोनास ओरिज़ी** द्वारा उत्पन्न धान का जीवाणविक अंगमारी (बैक्टीरियल ब्लाइट)।

(ज) रंग परिवर्तनः ऐसा आम तौर पर विषाणु या वाइरस-रोगों (वाइरल डिजीज) के कारण होता है। पौधों में भिन्न-भिन्न रंगों के नमूनों के लिए विभिन्न शब्दों का प्रयोग किया जाता है। हरित रोग (क्लोरोसिस) समूची पत्ती का सफेद या पीला होना है। कभी-कभी रंग

के ये परिवर्तन मोजेक नमूना बना देते हैं। शिरा स्पष्टता (वीन क्लियरिंग) ऐसा लक्षण है जिसमें शिराओं के नजदीक वाले ऊतक पीले हो जाते हैं और बाकी क्षेत्र हरा ही रहता है। जब शिराओं के नजदीक वाले ऊतक हरे ही रहते हैं और बाकी भाग हरित रोग से ग्रस्त हो जाता है तो इसे शिरा-पट्टन (वीन बैंन्डिंग) कहते है।

(झ) अतिवृद्धि (हाइपरट्रॉफी या ओवरग्रोथ) : इसमें पौधों के भागों या अंगों में रोगजनक या पैथोजेन द्वारा आकार में अपसामान्य वृद्धि हो जाती है। इसे अतिवर्धन (हाइपरप्लेसिआ) और अतिवृद्धि कहते है। अतिवर्धन कोशिकाओं की संख्या में बढ़ोतरी है और अतिवृद्धि कोशिकाओं की पृथक रूप से आकार में वृद्धि है। इस प्रकार से होने वाली वृद्धि कई नामों से जानी जाती है, जैसे कि पिटिका (गॉल), मुद्गर-मूल (क्लब रूट), मूल-गाँठ (रूट-नॉट) आदि। उदाहरण: **कोरिएन्ड्रम सैटाइवम** धनिया के तने की पिटिका, जो **प्रोटोमाइसीज मैक्रोस्पोरस** से उत्पन्न होती है।

(ञ) क्षीणता (एट्राफी) या अववृद्धि (अन्डर ग्रोथ) : कभी-कभी पौधों के भाग आंशिक या पूर्ण रूप से बहुत कम वृद्धि कर पाते हैं। उदाहरण: **पैरेनोस्पोरा ब्रेसिका** द्वारा सरसों के पौधे में आक्रमण होने पर फूलों की कलियां की वृद्धि रुक जाती है।

(ट) कूचीसम रोग (विचेज ब्रूम) : एक सीमित क्षेत्र से कई लम्बी शाखाए निकलती हैं, जो झाड़ू जैसी दिखाई देती हैं। इसका सामान्य उदाहरण आम के पुष्पक्रम का कूचीसम रोग है।

(ठ) ऊतकक्षय (नेक्रोसिस) : इसका अर्थ है कोशिकाओं, ऊतकों तथा अंगों की मृत्यु। कोशिकाओं की मृत्यु कभी-कभी एक छोटे क्षेत्र तक सीमित होकर धब्बों के रूप में दिखाई देती है।

पत्तियों के धब्बे कवकों द्वारा उत्पन्न सामान्य लक्षण है। पत्तियों के कुछ धब्बों या चकत्तों में, चकत्ते का मृत ऊतक फेंक दिया जाता है जिसके कारण गोल छेद बन जाते हैं जिन्हें विस्फोट छिद्र (शॉट होल) कहते हैं। ये चकत्ते धारियों में भी हो सकते है।

(ड) अंगमारी (ब्लाइट) : अंगमारी से पत्ती या पौधे के भागों के जले होने का आभास होता है। यह रोगजनक के कारण पत्तियों की तात्कालिक मृत्यु के परिणामस्वरूप होता है।

उदाहरण : **फाइटोफोरा इनफेस्टेन्स** द्वारा उत्पन्न आलू का *विलम्बित अंगमारी (लेट ब्लाइट)*।

(ढ) आर्द्रपतन (डैंपिंग ऑफ) : कुछ दशाओं में कई मृतजीवी कवक (सैप्रोफिटिक फंगाइ) प्रायः नवोद्भिदों (सीडलिंग) का आर्द्रपतन करते हैं। ये तने के आधार (बीजपत्राधार—हाइपोकोटिल) या जड़ों पर आक्रमण करते हैं जिससे उस क्षेत्र का ऊतक कमजोर हो जाता है और इसके परिणामस्वरूप नवोद्भिद गिर जाता है।

उदाहरण : पिथियम की जातियाँ तम्बाकू के नवोद्भिदों का आर्द्रपतन रोग करती हैं।

(ण) म्लानि (विल्ट) : कुछ उदाहरणों में सारा पौधा मुरझा जाता है। यह या तो संवहन-ऊतकों (वैस्कुलर टिश्यू) में रोगजनक के जमा होने के कारण, जिससे पानी व भोजन की गतिशीलता रुक जाती है, या इनके द्वारा आविषालु (टाक्सिक) या विषैले पदार्थों के स्रवण के कारण होता है।

उदाहरण : **फ्युजेरियम ऑक्सीस्पोरम** एफ० क्यूबेन्सी से उत्पन्न केले की म्लानि।

(त) कैंकर : कैंकर तने की छाल या वल्कुट (कोर्टेक्स) पर का मृत क्षेत्र है।

उदाहरण : **जैंथोमोनास सिट्री** द्वारा उत्पन्न सिट्रस (नींबू कुल के पौधों) कैंकर।

(3) रोग होने की मात्रा के आधार पर वर्गीकरण

प्रकृति में रोगों के होने के अनुसार वे **स्थानिक (एन्डीमिक)**, जानपदिक या महामारी **(एपिडेमिक)** अथवा **कदाचनिक (स्पोरेडिक)** होते हैं।

यदि कोई रोग किसी क्षेत्र में हर साल हल्के या उग्र रूप में होता रहता है तो उसे स्थानिक कहते हैं। जानपदिक या महामारी वे रोग हैं जो व्यापक रूप से होते हैं लेकिन आवधिक रूप से नहीं होते। जब पूरा पौधा ग्रसित होता है तो उसे दैहिक (सिस्टीमिक) कहते हैं। कदाचनिक वे रोग हैं जो कभी-कभी ही होते हैं।

(4) कारणात्मक जीवों के पाए जाने, स्थायीकरण और संचरण के आधार पर वर्गीकरण

रोगों को प्रकृति में उनके बने रहने के आधार पर भी वर्गीकृत किया जा सकता है, जैसे . (क) बीजोढ़ (सीड बोर्न), (ख) मृदोढ़ (सॉयल बोर्न), (ग) जलोढ़ (वाटर बोर्न) तथा (घ) वातोढ़ (एयर-बोर्न)। वे रोगजनक जो भूमि में बने रहकर उसके द्वारा संचरित होते हैं मृदोढ़ रोगकारक कहलाते हैं। इसी तरह बीज, पानी और हवा में बने रहने और उनके द्वारा संचरित होने वाले रोगकारक क्रमशः बीजोढ़, जलोढ़ और वातोढ़ कहलाते हैं। कई रोग अपने जीवन-चक्र की एक अवस्था में मृदोढ़ और दूसरी अवस्था में बीजोढ़ हो सकते हैं।

इस पाठ्य सामग्री में रोगों के विस्तृत वर्णन में ऊपर दिए गए वर्गीकरण को ही आधार माना गया है।

पौधों के रोगों का नियंत्रण

पादप रोगों के नियंत्रण की कई विधियाँ हैं। लेकिन किसी रोग का नियंत्रण करने के पहले निम्नलिखित बातों की पूरी जानकारी आवश्यक है: सम्बद्ध कारणात्मक जीव या स्वभाव, रोगजनक का जीवन-चक्र, रोगजनक सजीव है या निर्जीव, प्रकृति में रोगजनक (पैथोजेन) के जीवित बने रहने की क्या विधि है, निर्धारक कारक जैसे रोग की स्थापना को प्रभावित करने वाली वातावरणी दशायें तथा वे कारक जो उसका प्रसार करते हैं। अतः प्रत्येक प्रारूप (टाइप) यानी प्रकार और रोग के स्वभाव के कारण नियंत्रण उपाय बदलता रहता है। सोच-विचार कर ही विवेकपूर्ण ढंग से विधि का चुनाव करना चाहिए। पौधों के नियंत्रण पर तीन मुख्य पहलुओं से विचार किया जाता है :

(i) **रोग निरोधी (प्रोफाइलैक्टिक)** उपाय वे है जिनमें स्वस्थ पौधों को रोगजनक के संपर्क से बचाया जाता है।

(ii) **चिकित्सीय (थीराप्यूटिक)** उपाय वे है जिनमें पहले से रोगी पौधों के उपचार के लिए सुझाव दिए जाते हैं।

(iii) **प्रतिरक्षीकरण (इम्यूनाइजेशन)** उपाय वे हैं जिनमें रोग से लड़ने के लिए पौधों की रोधक्षमता में सुधार किया जाता है।

रोग निरोधी उपाय

बहिष्कार : निम्नलिखित सावधानियाँ बरतने पर कुछ रोगों को दूर किया या उनसे बचा रहा जा सकता है :

(क) संगरोध (क्वारन्टाइन) : सन् 1914 में भारत सरकार ने "विनाशी कीट तथा पीड़क अधिनियम" (डिस्ट्रक्टिव इनसेक्ट्स एन्ड पेस्ट्स ऐक्ट—डी० आई०पी० ऐक्ट) पास किया, जिसके अनुसार देश में रोगी पादप-सामग्री का प्रवेश वर्जित है। केवल प्रमाणीकृत बीज या पादप सामग्री को ही देश में लाने दिया या उगाने वालों के पास आने दिया जाता है। ये संगरोध केन्द्र प्रत्येक बड़े हवाईअड्डे व बन्दरगाह पर यही कार्य करते हैं और देश में रोगी पदार्थों की प्रविष्टि नहीं होने देते। शुरू में तो ऐसे रोगी पदार्थों को रोकने का कोई नियम नहीं था और इस तरह आलू का विलम्बित अंगमारी रोग (लेट ब्लाइट) आयरलैंड में दक्षिणी अमरीका से प्रविष्ट हुआ।

(ख) उन्मूलन (इरेडिकेशन) : रोगों से बचने का यह दूसरा लाभदायक उपाय है। उन्मूलन द्वारा रोग से बचने के लिए निम्नलिखित विधियाँ अपनाई जाती हैं :

(i) **सस्यावर्तन (क्रॉप रोटेशन)** : एक विशेष फसल को लगातार बोने पर रोगजनक का निवेश द्रव्य (इनॉकुलम) उग्र हो जाता है। फसल का आवर्तन करने या बदलने यानी असंवेदनशील परपोषी उगाने से रोगजनक दूर हो जाता है क्योंकि ऐसा करने से उपयुक्त परपोषी पौधे या पौधे के अवशिष्ट पदार्थ प्राप्त नहीं हो पाते। **फ्यूजेरियम आडम** द्वारा उत्पन्न अरहर (**कैजेनस कैजन**) की म्लानि तथा **फाइटोफ्थोरा निकोटियानी** किस्म **पैरासिटिका** और **स्क्लेरोटियम राल्फसिडी** द्वारा उत्पन्न पान (**पाइपर बीटल**) का पाद विगलन (फुट रॉट) रोग को दूर करने के लिए सस्यावर्तन का प्रयोग किया जाता है।

(ii) **एकांतर (आल्टर्नेट) परपोषियों तथा संपार्श्विक (कोलटेरल) परपोषियों का निराकरण :**

एकांतर परपोषियों के निराकरण से रोग

का स्थायित्व और प्रसार रुक जाता है। संयुक्त राष्ट्र अमरीका में बारबेरी की झाड़ियों के उन्मूलन से गेहूं के काले तने वाले किट्ट का नियंत्रण किया जा सका, क्योंकि बारबेरी एकान्तर परपोषी था। भारत में धान के प्रध्वंस (ब्लास्ट) के नियंत्रण के लिए यही विधि सुझाई गई है क्योंकि यहाँ कुछ बहुवर्षी घासीय परपोषी (संपार्श्विक या कोलेटरल) प्राथमिक निवेश द्रव्य या इनॉकुलम के स्रोत है।

(iii) **रोगी पौधों का अपवांछन (रोगिंग)** : पौधों के विषाणु या वाइरस रोगों के दैनिक नियंत्रण में ग्रस्त पौधों का अपवांछन या निराई अच्छी विधि है।

(iv) **खेत की स्वच्छता** : यह विधि तब प्रयुक्त की जाती है जब रोगजनक या तो भूमि में या रोगी पौधे के कचरे में पनपते जाते है। विविध उपाय ये है : रोगी पौधे के कचरे का निराकरण और उसको जला देना, रोगी पौधे और उसके भागों को गहरी जुताई द्वारा दबा देना, गरमी के मौसम में गहरी जुताई, और पौधे के गिरे या झड़े कचरे को रसायनों द्वारा विसंक्रमित (डिसइनफैक्ट) करना।

(v) **बीजोढ़ निवेश द्रव्य का उन्मूलन** : कई रोग बाहरी या भीतरी रूप से बीजोढ़ होते हैं। स्वस्थ बीजों को अलग करने के लिए छानने और पानी या नमक के विलयन में डुबोने की विधियों का इस्तेमाल किया जाता है। फार्मेल्डीहाइड, या पारे, तांबे या गंधक के यौगिक से बीज का रासायनिक उपचार करने पर बीज की बाहरी सतह पर लगा निवेश द्रव्य (इनॉकुलम) नष्ट हो जाता है। अन्दर से बीजोढ़ रोगजनक, जो भ्रूण में गहरे जमे हो सकते हैं, गरम पानी या सूर्य के उपचार से नष्ट हो जाते हैं।

(vi) **जैविक नियंत्रण** : इसका अर्थ है एक जीवधारी की सहायता से रोगकारी जीव का नियंत्रण। इससे रोगजनक द्वारा होने वाले रोग में बहुत कमी आ जाती है। उदाहरण के लिए, कोई रोगजनक, कोई सूत्रकृमि (निमेटोड) या कवक किसी दूसरे कवक या जीवाणु (बैक्टीरियम) द्वारा परजीवीकृत (पैरासिटाइज्ड) किया जा सकता है। प्रायः भूमि में साथ-साथ रहने वाले सूक्ष्मजीवों में परस्पर विरोध पाया जाता है क्योंकि कुछ जीव औरों की वृद्धि का संदमन (इनहिबिशन) करते हैं यानी दबा देते हैं। परपोषी की सतह पर एक जीव दूसरे से प्रतियोगिता करता है और वातावरण में परिवर्तन लाकर विरोधी सूक्ष्मजीवों या रोगाणुओं (माइक्रोब) की वृद्धि को उद्दीपित कर रोगजनक (पैथोजेन) को संदमित किया जा सकता है। कुछ उच्चतर पौधों की जड़ें ऐसे आविषालु (टाक्सिक) पदार्थों का स्रवण करती हैं जो रोगजनक पर रोक रखते हैं।

(vii) **रसायनों का रक्षात्मक अनुप्रयोग** : जब इस बात की आशा की जाती है कि रोग वातोढ़ निवेश द्रव्य के कारण होगा तो नियंत्रण उपायों के रूप में परपोषी (होस्ट)की सतह पर विशिष्ट आविषालु पदार्थों का प्रयोग किया जाता है। प्रयुक्त किए जाने वाले ये पदार्थ, जो कि रोगजनक के प्रति तो आविषालु या टॉक्सिक होते हैं लेकिन परपोषी के प्रति नहीं,—गंधक, तांबे, जस्त, निकल, मैंगनीज आदि के यौगिक हैं। इन्हें फुहार या धूलि (चूर्ण) के रूप में छिड़का जाता है।

चिकित्सीय उपाय

चिकित्सा या थिरैपी उस पौधे के उपचार का उपाय है जो कि पहले से ही रोगी हो चुका हो। प्रयत्न किया जाता है कि पौधा ऐसे लक्षणों से मुक्ति पा सके और रोगजनक (पैथोजेन) द्वारा पहुँचे नुकसान की मरम्मत या क्षतिपूर्ति कर सके। चिकित्सा के दौरान रोग के कारण का निराकरण कर दिया जाता है जिससे कि पौधे के शारीरिक क्रिया-कलाप सामान्य हो सकें। चिकित्सीय उपाय दो प्रकार के होते हैं : (क) भौतिक चिकित्सा और (ख) रसायन चिकित्सा (कीमोथिरैपी)।

(क) भौतिक चिकित्सा : इस विधि में रोग से लड़ने के लिए भौतिक साधनों का प्रयोग किया जाता है, जैसे कि शल्य आर्द्रता और तापमान के उपचार। बढ़ती जाने और अधिक होने वाली क्षति को रोकने के लिए पौधे के संक्रमित भागों को निकाल दिया जाता है। कोशिका के अन्दर की (अंतः कोशिक) नमी ऐसा कारक है जो कई पौधों में रोग के परिवर्धन से सम्बद्ध होता है। ऐसे में रोगी पौधों का उपचार अंतः कोशिक नमी का नियंत्रण करके किया जाता है। इससे जीवाणविक (बैक्टी-

रियल) मृदु गलन (सॉफ्ट रॉट) तथा अन्य रोगों में कमी आ जाती है। पूतिरोधियों (ऐंटीसेप्टिक) वाले या बिना पूतिरोधी वाले गरम पानी में डुबाने पर रोग का नियंत्रण होता देखा गया है।

(ख) रसायन चिकित्सा : रोगजनक स्थानिक रूप से किसी क्षेत्र या ऊतक की केवल सतह वाली कोशिकाओं को संक्रमित कर सकता है या क्षति पहुँचा सकता है। साथ ही सर्वांग रूप से पौधे के समूचे भाग पर आक्रमण हो सकता है। इस प्रकार ऊपर बताए गए संक्रमण के प्रकारों में पहले वाले उपचार को स्थानिक (टौपिकल) रसायन चिकित्सा और बाद वाले संक्रमण के उपचार को सर्वांगी रसायन चिकित्सा (सिस्टीमिक कीमोथिरैपी) कहते हैं। रसायन चिकित्सा में रोग के साथ रसायनों द्वारा लड़ा जाता है जो दशा के अनुसार स्थानिक रूप से या सर्वांग रूप से कार्य करते है। चिकित्सा वाला यह रसायन एक यौगिक होता है जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से ठीक करने वाले या रोग कम करने वाले असर की शुरुआत करता है।

कई रोगों में स्थानिक रूप से रसायन चिकित्सा या रसोचिकित्सा द्वारा व्यापारिक पैमाने पर सफलता प्राप्त कर ली गई है। जीवाणुओं (बैक्टीरिया) तथा कवकों द्वारा भीतर से संक्रमित बीजों को उपयुक्त सांद्रता में डायाथायोकार्बमेट, फीनोल, फौर्मल्डीहाइड, वाष्प से उपचारित किया जाता है जो बीज के अन्दर प्रविष्ट होकर रोगजनक को **स्वस्थाने** (इन सिटु) मार देते है।

रोपण या बोने से पहले आलू के संक्रमित कंदों को फोर्मलीन या मरक्यूरिक क्लोराइड के विलयन में डुबोया जाता है। सर्वांगी रसायन चिकित्सा में रोगजनक को परपोषी पौधे के दूर से दूर वाले पत्रक (लीफलेट) तक भी नहीं छोड़ा जाता। पौधे के भीतर रसायन सर्वांग रूप से वितरित होकर रोगजनक को प्रत्यक्ष आविषालु क्रिया से मार देते हैं। रसायन जड़ों द्वारा भी सोखे जाकर पत्तियों तक पहुँचा दिए जाते हैं। रसायन चिकित्सा से सम्बद्ध रसायनों के उदाहरण हैं -- फेनिल-मरकरी-ऐसीटेट, सल्फानिलामाइड तथा सम्बन्धी सल्फा-यौगिक, प्रतिजैविक (एन्टीबायोटिक) और ऑक्सिन।

पौधों के रोगों के नियंत्रण में इस्तेमाल किए जाने वाले सामान्य कवकनाशी (फंगिसाइड) और प्रतिजैविक (ऐण्टीबायोटिक)

(i) बोर्डो मिश्रण (बोर्डो मिक्सचर) : यह 50 गैलन पानी में घुला हुआ 4:4 के अनुपात में नीले थोथे (कॉपर सल्फेट) और चूने का मिश्रण है। सन् 1878 से, जब से इसकी खोज हुई तब से यह उत्तम कवकनाशियों में से एक है। आर्थिक दृष्टि से कई महत्वपूर्ण फसलों के रोगों के नियंत्रण में इसका व्यापक प्रयोग होता है, जैसे अंगूर के मृदुरोमिल आसिता रोग (डाउनी मिल्ड्यू), मूँगफली के टिक्का रोग और काफी किट्ट (रस्ट) आदि में।

(ii) गंधक धूलि (सल्फर डस्ट) : आकार्बनिक गंधक बहुत पुराना और व्यापक रूप से प्रयुक्त किया जाने वाला कवकनाशी है। आदिकालीन यूनानी भी इसका उपयोग जानते थे। इसे चूरे या चूर्ण रूप में या गीले रूप में इस्तेमाल किया जा सकता है, जिसे धूलि के रूप में छिड़का अथवा फुहारा जा सकता है। गंधक की धूलि का प्रयोग चूर्णी आसिता (पाउडरी मिल्ड्यू) के नियंत्रण में किया जाता है।

(iii) भारी धातुओं वाले कार्बनिक यौगिक : ऐग्रोसेन जी०एन०, गर्सन और टिलेक्स पारे के कार्बनिक यौगिक हैं जिनका इस्तेमाल बीज-उपचार में किया जाता है। इनके प्रयोग से कई बीजोढ़ रोगों के नियंत्रण में अच्छे परिणाम प्राप्त हुए हैं, जैसे कि धान की पत्ती के भूरे चकत्ते वाले रोग में। डायाथायोकार्बमेट कवकनाशी, जैसे कि डायाथेन एम-45, डायाथेन जेड-78, मूँगफली के टिक्का रोग का नियंत्रण करते हैं। धान्यों, सब्जियों और फल वाली फसलों आदि का आल्टर्नेरिया अंगमारी रोग (ब्लाइट) डायाथेन एम-22 तथा डायाथेन एस-31 से नियंत्रित रहता है।

(iv) कवकनाशियों के रूप में प्रतिजैविकों का इस्तेमाल : रोगकारी कवकों तथा जीवाणुओं (बैक्टीरिया) का नियंत्रण करने के लिए कई प्रतिजैविकों (ऐन्टीबायोटिक) का इस्तेमाल किया जाता है। पौधों के रोगों के नियंत्रण में पेनीसिलिन, स्ट्रेप्टोमाइसिन, साइक्लोहेक्सिमाइड, ग्रिसियोफल्विन और विरिडिन का प्रयोग किया जाता है।

जीवाणु या बैक्टीरियाई रोगों के नियंत्रण में स्ट्रेप्टो-माइसिन बहुत प्रभावकारी है। ये रोग बहुत लम्बे समय से अनियंत्रित थे। साइक्लोहेक्सिमाइड और ग्रिसियोफल्विन कवकविरोधी प्रतिजैविक (एन्टीबायोटिक) हैं जो सचमुच बहुत प्रभावकारी पाए गए हैं। ऐग्रिमिसिन धान के जीवाणु-अंगमारी (बैक्टीरियल ब्लाइट) पर और ब्लास्टि-सिडिन धान के प्रध्वंस रोग (ब्लास्ट) पर नियंत्रण रखता है।

प्रतिरक्षीकरण उपाय

पादप रोगों को प्रभावशील ढंग से नियंत्रित करने के लिए प्रतिरक्षीकरण (इम्म्यूनाइज़ेशन) उपाय सबसे उत्तम साधन है। परजीवी कारणात्मक साधनों द्वारा परपोषी पौधे संक्रमण के प्रति प्रतिरक्षित (इम्म्यून) या रोधी बना दिए जाते हैं। रोधी किस्मों (रेसिस्टेंट वैराइटीज़) को निम्नलिखित तरीकों से प्राप्त किया जा सकता है :

(क) रोगरोधी किस्मों का वरण (चुनाव) : पौधों की महामारियों के दौरान प्रायः यह पाया जाता है कि खेती वाली एक अच्छी किस्म के अन्तर्गत औरों की अपेक्षा कुछ पौधे अधिक रोगरोध दिखलाते हैं। ऐसे पौधों का सावधानीपूर्वक चयन करने और बड़े पैमाने पर उनकी खेती करने से अधिक रोगरोध गुणता वाली किस्में उत्पन्न होती हैं।

(ख) पौधों की प्रविष्टि : फसल सुधार की विधियों में पौधों की प्रविष्टि एक बहुत पुरानी विधि है। यह एक आम बात रही है कि दूर के क्षेत्रों वाले उन पौधों की नई किस्में अनेक रोगों से ग्रस्त नए क्षेत्रों में प्रविष्ट की जाती हैं, जिन्होंने पुराने क्षेत्र में अच्छे परिणाम दिए होते हैं। पौधों को प्रविष्ट करने की यह प्रणाली सामान्य-तया दूर के इलाकों या विभिन्न जलवायु-दशाओं वाले देशों के बीच अपनाई जाती है।

(ग) रोगरोधी किस्मों का प्रजनन (ब्रीडिंग) : स्थाई रूप से रोगरोधी किस्मों का प्रजनन करना पादप रोगों के नियंत्रण की सबसे उत्तम विधि है। यह मालूम किया गया है कि यह रोध कुछ आनुवंशिक (जीनेटिक) कारकों द्वारा उत्पन्न होता है। पहले, परपोषी (होस्ट) के उन शरीरक्रियात्मक और शारीरीय (ऐनाटोमिकल) लक्षणों का विस्तार में अध्ययन किया जाता है जो कि रोगजनक (पैथोजेन) के आक्रमण के प्रति रोध दृष्टि से लाभकारी होते हैं। फिर रोगजनक तथा रोग की प्रक्रिया की विस्तृत जानकारी प्राप्त की जाती है। इसके बाद रोगरोधी किस्म और रोग-संवेदनशील किस्म के जनकों में परस्पर संकरण (क्रास) कराया जाता है और इस तरह एक नई किस्म निकल आती है, सामान्यतया जिसका कर्षण किया जाता है। खेत की दशाओं में हरित बाली रोग (ग्रीन इयर डिजीज़) के प्रति बाजरा का उन्नत के०आई०विभेद (स्ट्रेन) अच्छा रोध दिखलाता है।

अभ्यास

1. पौधों के रोगों के अन्य सामान्य लक्षण क्या है ?
2. निम्नलिखित के बारे में संक्षिप्त ऐतिहासिक टिप्पणी लिखो :
   (क) बंगाल का अकाल।
   (ख) आयरलैंड का आलू का अकाल।
   (ग) कवकविज्ञान (माइकोलॉजी) तथा पादप रोगविज्ञान (प्लान्ट पैथोलॉजी)।
   (घ) बोर्डो मिश्रण।
3. तुमने जिन विषाणु (वाइरसी या वाइरल), जीवाणु (बैक्टीरियल) और कवकीय (फंगल) रोगों का अध्ययन किया है उनमें से प्रत्येक का एक उदाहरण दो। इनमें से किसी एक के लक्षणों का वर्णन करते हुए नियंत्रण उपायों को बतलाओ।

4. निम्नलिखित में से किन्हीं दो पर अपने विचार प्रकट करो :
   (क) रोग के परिवर्धन में प्रवर्तनपूर्व कारक(प्रीडिस्पोजिंग फैक्टर) महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।
   (ख) रोग नियंत्रण में रोग निरोधी उपाय उत्तम साधन हैं।
   (ग) रसायन चिकित्सा वाला रसायन, रोगजनक (पैथोजेन) को परपोषी पौधे की पत्ती के सिरे तक बख्शता नहीं।
5. पादप रोगों का वर्गीकरण कैसे किया गया है ?
6. तन्दुरुस्त पौधे को रोगी पौधे से स्पष्ट करते हुए उनका आपसी अन्तर स्पष्ट करो।

अध्याय-28

भारत में पौधों के कुछ महत्वपूर्ण रोग

पौधों के महत्वपूर्ण रोगों का निम्नलिखित शीर्षों के अन्तर्गत आसानी से अध्ययन किया जा सकता है . (क) बीजोढ़, (ख) मृदोढ़, (ग) वातोढ़, तथा (घ) वे जो पौधे के भागों द्वारा फैलते हैं।

(क) बीजोढ़ (सीड बोर्न) रोग

भारत में फसलों के महत्वपूर्ण बीजोढ़ रोग ये हैं : (1) धान की पत्ती का तिल चकत्ता रोग (सीसेम लीफ स्पॉट ऑफ राइस), (2) बाजरा का अर्गट रोग, (3) गन्ने का लाल विगलन (रेड रॉट), (4) धान का जीवाणु-अंगमारी रोग (बैक्टीरियल ब्लाइट) और (5) कपास का कृष्ण शाखा रोग (ब्लैक आर्म)। प्रकृति में बीजोढ़ रोगजनकों (पैथोजेन) का एक सामान्य प्रकार का रोग-चक्र होता है। एक ऐसे रोग-चक्र को चित्र 28.1 द्वारा समझाया गया है। यह चक्र हर रोग में अलग-अलग हो सकता है। ये रोग लक्षणों, रोग-चक्रों तथा नियंत्रण की विधियों सहित नीचे वर्णित किए गए हैं।

चित्र 28.1 : धान की पत्ती का तिल-जैसे चकत्ते वाले रोग का चक्र (बीजोढ़ : सीड बोर्न)।

(1) धान की पत्ती का तिल चकत्ता या भूरा चकत्ता रोग

रोगजनक : हेल्मिथोस्पोरियम ओरिज़ी (कवक)

हेल्मिथोस्पोरिओज या पत्ती के भूरे चकत्ते वाले रोग से सन् 1918-19 में कृष्णा-गोदावरी के क्षेत्र में तथा सन् 1942 में अविभाजित बंगाल में धान की उपज को भारी नुकसान पहुँचा था। दाने की उपज में 50 से 90% तक का नुकसान पाया गया। यह रोग देश के दक्षिणी और पश्चिमी क्षेत्रों में अधिक पाया जाता है।

धान उगाने वालों को रोग के आरम्भ और परिवर्धन सम्बन्धी कारकों व दशाओं की सही जानकारी होने से वे रोगरहित खेती करने की योजना अच्छी तरह बना सकते हैं।

लक्षण : पत्तियों, पर्णच्छदों (लीफ शीथ) और तुषों (ग्लूम्स) में छोटे-छोटे गोल भूरे चकत्ते नजर आते हैं जिनमें बीच का क्षेत्र काला और किनारियाँ भूरी होती हैं (चित्र 28 2)। बीज झुर्रीदार और विवर्णित या रंगहीन हो जाते हैं।
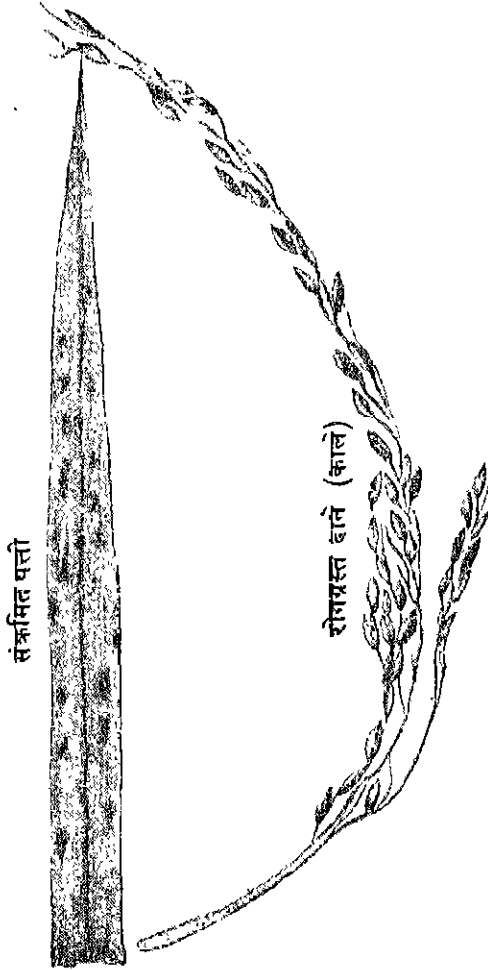
चित्र 28.2 : धान की पत्ती का भूरा या तिल-जैसे चकत्ते वाला रोग।

रोग चक्र : प्राथमिक या पहला संक्रमण (इनफेक्शन) बहुत उग्र होता है जब बोने के मौसम में भूमि का तापमान 26° सेन्टीग्रेड से नीचे गिर जाता है। प्रयोगों से पता चला है कि रोगजनक बीज में करीब एक साल यानी बोआई के अगले मौसम तक जीवनक्षम बना रहता है। वातोढ़ या हवा द्वारा उड़ने वाले कोनीडियम द्वितीयक या बाद वाला संक्रमण करने में महत्वपूर्ण रोल अदा करते हैं। फसल की प्रौढ़ावस्था में यह द्वितीयक संक्रमण रोग को उग्र रूप से फैला सकता है। लम्बी वर्षा ऋतु की अपेक्षा समय-समय पर नियमित बौछारों के साथ अधिक नमी से कोनीडियम अधिक उत्पन्न होते हैं और उनका बिखराव भी अच्छा होता है। कोनीडियम पानी की उपस्थिति मे 20° से लेकर 35° सेंटीग्रेड पर संक्रमण करते हैं। प्रकाश की अपेक्षा अंधेरे में संक्रमण बड़ी तेजी से होता है। पौधे "बूट" या पुष्पन-अवस्था में अधिक संवेदनशील होते है। आपेक्षिक आर्द्रता (नमी) में अचानक वृद्धि, रोज के तापमान के परास (रेंज) में गिरावट और बदली का बने रहना ऐसे कारक हैं जिनसे रोग के फैलने में सहायता पहुँचती है।

नियंत्रण : बीजों को बोने से पहले वजन की दृष्टि से 1 : 300 भागों में कार्ब-पारदीय (और्गेनो-मरक्यूरियल) पदार्थों से उपचारित किया जाता है। 10 मिनट तक 55° सेन्टीग्रेड पर गरम पानी में बीजों का उपचार भी वातोढ़ संक्रमण को कम करने में काफी प्रभावकारी रहता है। वातोढ़ प्रकार के द्वितीयक संक्रमण को 5 : 5 : 50 के अनुपात में बोर्डो मिश्रण या डायाथेन जेड-78 को, मौसम के दौरान, दो या तीन बार छिड़क कर रोका जा सकता है। भारत में टी-141 (उड़ीसा), सी० ओ० 20 (मद्रास) और टी० 498-2 ए (बिहार) सरीखी रोधी किस्मों से अच्छे परिणाम प्राप्त हो रहे हैं।

(2) बाजरे का अर्गट रोग

रोगजनक : क्लेवीसेप्स माइक्रोसेफैला (कवक)

लक्षण : रोग तब स्पष्ट होता है जब स्पाइक के स्पाइक्लेटों से हल्के गुलाबी या शहद जैसे रंग के तरल (हनीड्यू) की नन्हीं बूँदें रिसने लगती हैं। बाद में रिसने वाली ये बूँदें काले रंग की हो जाती हैं और बाल में कई काले व चिपचिपे धब्बे एक साथ दिखलाई

देने लगते हैं। अन्त में तुषों (ग्लूम्स) के बीच में कई छोटे व गहरे भूरे रंग के स्क्लेरोशियम बाहर निकलते हुए दिखलाई देने लगते हैं। इससे बीज का बनना संदमित हो सकता है।

रोग-चक्र : संक्रमण फूल से होता है। रोग का फैलाव कोनीडियमों के माध्यम से होता है जो 13 महीनों तक जीवनक्षम बने रहते है और *अंडाशय (ओवरी)* पर आक्रमण करते हैं।

नियंत्रण : यह रोग बीजोढ़ है। इसलिए अर्गट से मुक्त बीजों को ही इस्तेमाल करना चाहिए। बीजों को 20% *सोडियम* क्लोराइड (नमक) या 30% *पोटेशियम* क्लोराइड के विलयन में डुबोना चाहिए। रोगी बीज तैरते रहेंगे और तन्दुरुस्त बीज डूब जाएंगे। फिर डूब जाने वाले तन्दुरुस्त बीजों को पानी में धोकर ही खेत में बोया जाता है।

(3) गन्ने का लाल विगलन रोग (रेड रॉट) रोगजनक : कालेटोटाइकम फैल्केटम (कवक)।

भारत में यह रोग भारी क्षति पहुँचाता है, विशेषकर पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार में।

लक्षण : गन्ने के संक्रमित फटे भागों से एल्कोहलीय गंध आने लगती है और सफेद अनुप्रस्थ पट्टियों वाले लाल ऊतक दिखाई देते हैं। पत्तियाँ झड़ जाती हैं और गन्ने पर झुर्रियाँ पड़ जाती हैं और झुर्रीदार पपड़ी में काले धब्बे दिखाई देते हैं (चित्र 28 3)।

रोग-चक्र : रोग बीज के लिए गन्ने के कटे भागों से फैलता है। द्वितीयक संक्रमण कोनीडियमों द्वारा होता है, जो पत्ती की मध्य शिरा (मिड-रिब) के विक्षतों (लेजन्स) या घाव वाले भागों में बहुतायत से उत्पन्न होते हैं।

नियंत्रण : बीज के लिए तन्दुरुस्त बीजी भागों का इस्तेमाल किया जाना चाहिए। पौधे की रोधी किस्मों को उगाया जाना चाहिए।
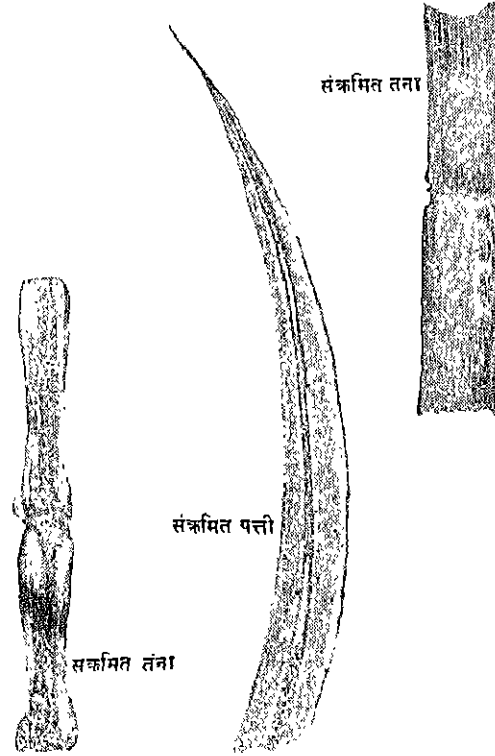
चित्र 28.3 : गन्ने का लाल विगलन (रेड रौट)।

(4) धान का जीवाणु-अंगमारी (बैक्टीरियल ब्लाइट) रोगजनक : जैंथोमोनास ओरिजी (जीवाणु : बैक्टीरियम)

धान का जीवाणु-अंगमारी भारत में जापान की ताइचुंग सरीखी अधिक उपज वाली किस्मों के साथ ही प्रविष्ट हुआ। जापान में यह रोग इस सदी के प्रारम्भ से ही अच्छी तरह से ज्ञात था। पिछले दशक के दौरान भारत में इससे भारी नुकसान पहुँचा है।

लक्षण : यह रोग जुलाई से अक्टूबर तक होता है और पत्ती की एक या दोनों सतहों पर हल्के हरे या हरे पीले विक्षतों (लेजन्स) या क्षत भागों के रूप में दिखलाई पड़ता है। ये विक्षत फैलकर तथा एक दूसरे से मिलकर लम्बी लहरदार धारियाँ बना लेते हैं। बाद में ये हल्की

पीली धारियां पुआल वाले पीले रंग की हो जाती है जिनमें लहरदार भूरे किनारे होते है। रोगी पत्ती बहुधा ऊपरी सिरे से नीचे की ओर सूखती चली जाती है। संक्रमण की उग्रता में सारा खेत ऐसा लगता है मानो जला हुआ हो।

रोग-चक्र : रोगजनक अन्दर और बाहर से बीज, ठूंठों और पुआल में जीवित रहता है और प्राथमिक निवेश द्रव्य (इनॉकुलम) का स्रोत होता है जो संवहन ऊतकों में बढ़ता रहता है। रोगी पत्तियों में निकला जीवाणविक (बैक्टीरियल) रिसाव द्वितीयक निवेश द्रव्य (इनॉकुलम) का बहुत अच्छा स्रोत होता है और इसका बिखराव वर्षा की बौछारों, कीटों, सिचाई के पानी आदि से आसानी से हो जाता है।

नियंत्रण : बीजों को 0.025% ऐग्रिमाइसिन के विलयन और 0.05% क्लेदनीय सेरीसॅन के मिश्रण में 12 घंटे तक भिगोया जाता है। फिर इन्हे 30 मिनट तक 52°-54° सेन्टीग्रेड तक गरम पानी में रखा जाता है और उसके बाद ही बोया जाता है। खेतों में जल प्रबन्ध उत्तम प्रकार से होना चाहिए।

(5) कपास का कृष्ण शाखा अथवा कोणीय पर्ण चकत्ता रोग

रोगजनक : जैंथोमोनास माल्वासिएरम (जीवाणु)

यह कपास का एक भयानक जीवाणु रोग है। यह दुनिया के कपास उगाने वाले सभी प्रमुख प्रदेशों में होता है और पहले पहल मद्रास में सन् 1918 में पाया गया था।

लक्षण : जीवाणु (बैक्टीरियम) तरुण और पुराने दोनों प्रकार के पौधों के वायवीय या भूमि के ऊपर के सभी भागों पर आक्रमण करता है। रोग का बिल्कुल आरम्भिक लक्षण अंकुरित होने वाले बीजों के बीजपत्रों (कॉटीलेडन्स्) में दिखाई देता है। पत्तियों में जलसिक्त छोटे चकत्ते दिखलाई देते हैं, जो पुराने होने पर गहरे भूरे रंग के और हल्के लाल या हल्के बैंगनी किनारे वाले हो जाते हैं। तने पर भी काले रंग के लम्बे विक्षत (लेजन) दिखलाई देते हैं (चित्र 28.4)।
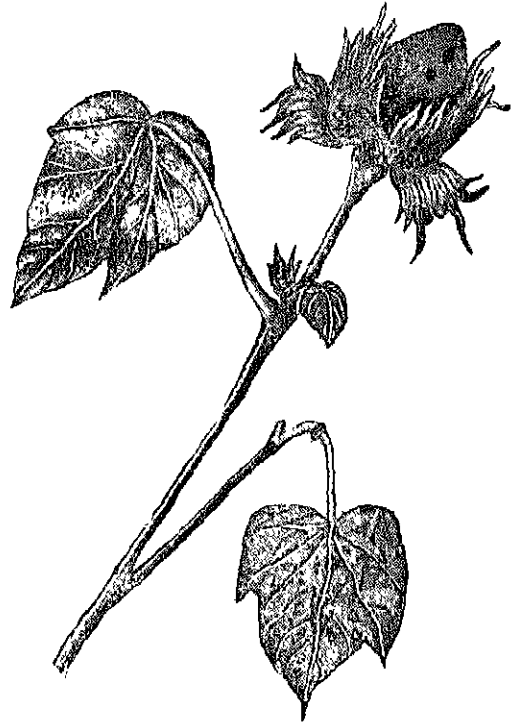
चित्र 28.4 : कपास का कोणीय पर्ण चकत्ता या कृष्ण शाखा रोग।

रोग-चक्र : यह रोग बीजोढ़ होता है। प्राथमिक संक्रमण मुख्य रूप से बीज से होता है जो जीवाणु या बैक्टीरियम को रोओं में या अपने अन्दर चिकने पुंज के रूप में धारण किए रहता है। भूमि की सतह पर पड़े संक्रमित कपास के गोले, पत्तियाँ और टहनियाँ भी रोग फैलाने में महत्वपूर्ण योग देती हैं। पत्तियों में संक्रमण मुख्यत: रंध्रों (स्टोमेटा) के द्वारा होता है। रोग का द्वितीयक संक्रमण वर्षा की बौछारों और ओस से होता है।

नियंत्रण : बीजों को सांद्र या तेज गंधक के अम्ल (सल्फ्यूरिक एसिड—H_2SO_4) द्वारा 10-15 मिनट तक उपचारित किया जाता है। फिर अम्ल को धोने के लिए इन्हें पानी में खूब धोया जाता है। अंत में बीजों को एग्रोसन जी एन, सेरीसन द्वारा 2 से लेकर 2.5 ग्राम प्रति कि० ग्रा० बीजों की दर से उपचारित किया जाता है। जीवाणु

(बैक्टीरियम) बीज में करीब एक साल तक ही रहता है इसलिए यह सुझाव दिया जाता है कि बोने के पहले बीजों को दो साल तक भंडार में रखना चाहिए।

(ख) मृदोढ़ (सॉयल बोर्न) रोग

मृदोढ़ या मिट्टी से फैलने वाले कुछ रोग ये हैं : (6) बाजरे का हरित बाली (ग्रीन इयर) रोग, (7) बाजरे का कंड (स्मट), (8) मूंगफली का टिक्का रोग, (9) टमाटर का मूल-ग्रंथि या जड़ों पर गाँठ वाला रोग। चूंकि प्राथमिक निवेश द्रव्य (इनॉकुलम) का स्रोत भूमि ही है इसलिए नियंत्रण उपायों में भूमि का प्रबन्ध व उपचार होना ही चाहिए। मूंगफली के प्ररूपी या सामान्य टिक्का रोग का चक्र चित्र 28.5 में दिखलाया गया है।
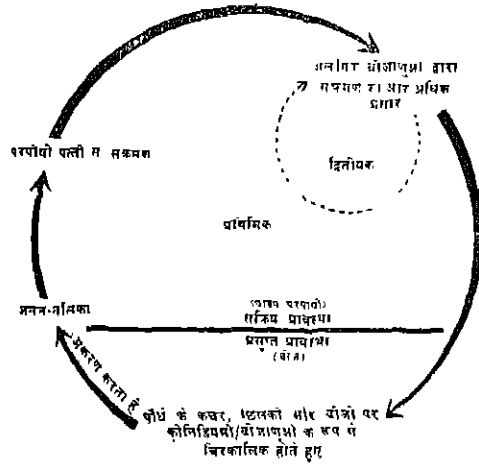
चित्र 28.5 : मूंगफली के टिक्का रोग का चक्र (मृदोढ़ – सॉयल बोर्न)।

(6) बाजरे का हरित बाली रोग

रोगजनक : स्क्लेरोस्पोरा ग्रैमिनीकोला (कवक)

बाजरा या पर्ल मिलैट आपेक्षिक रूप से निकृष्ट भूमि में उगता है और राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र, पंजाब तथा उत्तर प्रदेश के शुष्क और अर्द्ध शुष्क क्षेत्रों की मुख्य फसल के रूप में उगाया जाता है। इसकी खेती बहुत सरल रीति से होती है और यह भारतीय खाद्य अर्थ व्यवस्था का आधार है। भारत के सभी बाजरा उगाने वाले क्षेत्रों का प्रमुख रोग हरित बाली रोग है। राजस्थान, पंजाब और दिल्ली में ही 40 से 50% वार्षिक हानि आँकी जाती है। भारत में इस रोग की खोज बटलर ने की थी।

लक्षण : रोगी या ग्रस्त पत्तियाँ सफेद हो जाती हैं और बाद में इनकी निचली सतह पर बीजाणु धानियों (स्पोरेंजिया) की भूरी सफेद मृदुरोमिल (डाउनी) रचनाएँ
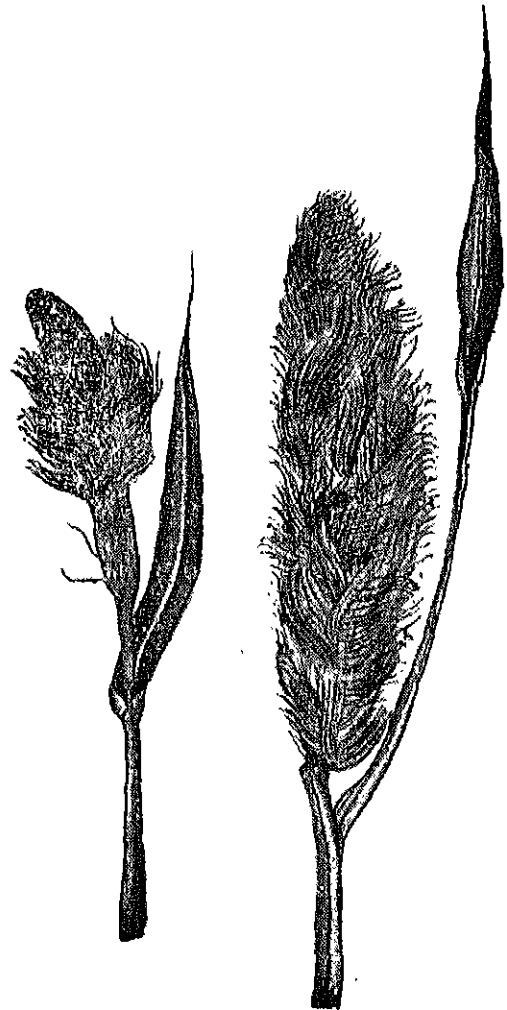
चित्र 28.6 : बाजरे का हरित बाली रोग।

दिखलाई देने लगती है। बाली या पुष्पक्रम (इनफ्लोरेसेंस) पूरे या आंशिक रूप में छोटे, व्यावर्तित (ट्विस्टेड)तथा हरी पत्ती जैसी रचनाओं के श्लथ मुडक (लूज हेड) में रूपान्तरित हो जाता है (चित्र 28.6)।

रोग-चक्र : यह मृदोढ़ रोग है। पौधे के कचरे के साथ जमीन पर गिरने वाले निषिक्तांड (ऊस्पोर) अनुकूल परिस्थितियों में अंकुरण करते हैं। द्वितीयक संक्रमण करने वाली बीजाणुधानियां (स्पोरेंजिया) हवा, पानी और कीटों द्वारा ले जाई जाती हैं।

नियंत्रण : रोग के नियंत्रण की दिशा में अभी अधिक कार्य नहीं किया गया है। संक्रमण कम करने के लिए संक्रमित बीजों को ऐग्रोसन जी० एन० से उपचारित करने का सुझाव दिया जाता है। गरम पानी का उपचार भी लाभकारी होता है। खेती के लिए बाजरे की एच० बी० आई० सरीखी रोग रोधी किस्म की सिफारिश की जाती है।

(7) बाजरे का कंड (स्मट) रोग

रोगजनक : टोलिपोस्पोरियम पेनीसिलेरियाई

लक्षण : ग्रस्त दाने बाल से अलग होकर तुषों (ग्लूम) से बाहर नाशपाती की आकृति की रचनाओं में साफ-साफ झलकने लगते हैं। स्तम्भ चमकीला हरा या चाकलेटी भूरा होता है और जब यह पुराना होता है तो भद्दे काले रंग का बन जाता है जिसमें अन्दर बन्द बीजाणुओं (स्पोर) का पुंज रंग में गहरा भूरा या काला होता है।

रोग-चक्र : पौधे मृदोढ़ बीजाणुओं द्वारा पुष्पन अवस्था पर संक्रमित होते हैं। टेल्यूटो बीजाणुओं (टेल्यूटो-स्पोर) द्वारा होने वाला द्वितीयक संक्रमण रोग को फसल में फैला देता है।

नियंत्रण : संक्रमित या रोगी पौधों को जला दिया जाना चाहिए और रोगरोधी किस्में उगाई जानी चाहिए।

(8) मूँगफली का टिक्का रोग

रोगजनक : सर्कोस्पोरा पर्सोनेटा

भयानक प्रकार से होने वाला मूंगफली का पर्ण चकत्ता या पत्ती के धब्बे वाला रोग सारे भारत में पाया जाता है। आम और बोलचाल की भाषा में इसे टिक्का रोग कहते है।

लक्षण : पत्ती की दोनों सतहों पर 4 से 10 मिमी० व्यास वाले कई ऊतकक्षयी (नेक्रोटिक) गोल चकत्ते या धब्बे दिखलाई देते हैं। कभी-कभी परिपक्व होने पर इन धब्बों के चारों ओर पीले रंग का एक घेरा भी हो सकता है (चित्र 28.7)।
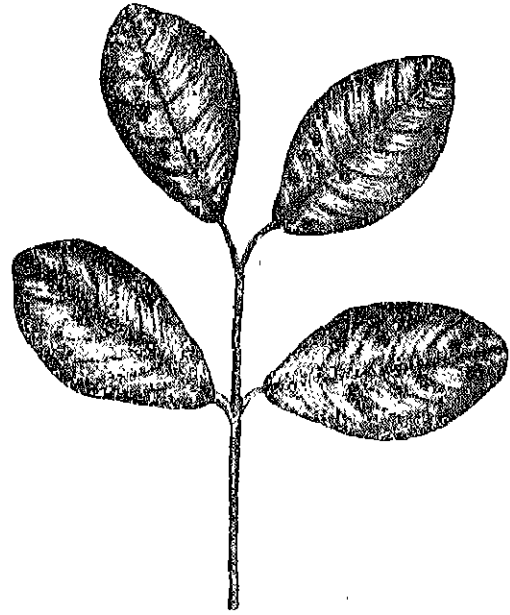
चित्र 28.7 : मूँगफली का टिक्का रोग।

रोग चक्र : यह रोग हर साल कोनीडियमों के द्वारा फैलता है, जो भूमि में फल के खोल या छिलकों के भीतर या पौधे के कचरे में पड़े रहते हैं।

नियंत्रण : बोर्डो मिश्रण (4 : 4 : 50), डायथेन जेड-78 (0.2%) और डायथेन एम-45 सरीखे कुछ

कवकनाशियों का, रोग नियंत्रण के लिए इस्तेमाल किया जाता है। रोग मैगनीशियम की कमी के कारण फैलता है। इसलिए भूमि में मैगनीशियम वाले उर्वरकों का प्रयोग किया जाना चाहिए।

(9) टमाटर का मूल-ग्रंथि या जड़ों की गाँठ वाला रोग (रूट नॉट)

रोगजनक : मिलॉयडोजाइन हैप्ला

यह एक सूत्रकृमि है, जो टमाटर के पौधों की जड़ों में परजीवी बनकर रहता है।

लक्षण : इस सूत्रकृमि के संक्रमण से पौधे की वृद्धि कम हो जाती है, अचानक म्लानि (विल्टिंग) होने लगती है और जड़ों में पिटिकाएँ (गॉल) बनने लगती हैं जिसका नतीजा होता है उनमें गाँठों का पड़ जाना। डिम्भक (लार्वा) जड़ की मज्जा (पिथ) में प्रविष्ट होकर उसकी वृद्धि रोक देते हैं और उधर वल्कुट (कार्टैक्स) की कोशिकाएँ काफी बड़े आकार की हो जाती है (चित्र 28.8)।

चित्र 28.8 : टमाटर का मूल-ग्रंथि रोग (जड़ों पर गाँठें)।

रोग-चक्र : मादा सूत्रकृमि और डिम्भक भूमि और पौधे के कचरे में जीवित रहते हैं। ये ही जड़ों को संक्रमित करते हैं। मादा अनिषेकजनन (पार्थेनोजेनेसिस) की रीति से जनन करती है।

नियंत्रण : सूत्रकृमियों का जैविक नियंत्रण खेत में **टैगेटीज** (गेंदा) वंश के पौधे लगाने से हो जाता है। **टैगेटीज** वंश के पौधों की जड़ों का सूत्रकृमियों पर *आविषालु (टॉक्सिक) यानी विषैला प्रभाव पड़ता है।* टमाटर की जड़ों के अवशिष्ट नष्ट किए जाते हैं और भूमि में धूमकों (फ्यूमिगेन्ट) का प्रयोग किया जाता है। गर्मियों में दो या तीन बार हल चलाने से सूत्रकृमि के डिम्भक नष्ट हो जाते हैं।

(ग) वालोढ़ (एयर बोर्न) रोग

हवा में विद्यमान प्राथमिक निवेश द्रव्य (इनॉकुलम) के माध्यम से हर साल फैलने वाले रोग ये हैं :

(10) धान का प्रध्वंस (ब्लास्ट), (11) गेहूँ का किट्ट (रस्ट), तथा (12) कॉफी-किट्ट। नियंत्रण की सामान्य विधि है रोधी किस्मों तथा कवकनाशियों (फंगिसाइड) का इस्तेमाल। चित्र 28.9 में सामान्य जीवन-चक्र का नमूना दिया गया है।

(10) धान का प्रध्वंस (ब्लास्ट)

रोगजनक : पाइरीकुलेरिया ओरिज़ी (कवक)

धान के पौधे का यह महत्वपूर्ण रोग, सारी दुनिया में पाया जाता है। यह पूरे भारत में भी पाया जाता है।

लक्षण : पत्तियों पर तर्कु (तकुवे) के आकार के विक्षत (लेज़न) प्रकट हो जाते हैं। ये धब्बे बीच में राख के रंग के और किनारों पर भूरे रंग के होते हैं। उग्र संक्रमण में पौधे नवोद्भिद् (सीडलिंग) वाली अवस्था में ही मुरझा जाते हैं। बाकी में गाँठें या पर्ण-संधियाँ (नोड) काली हो जाती हैं और जोड़ों पर टूट जाती हैं। गर्दन या बाली के नीचे वाले भाग पर
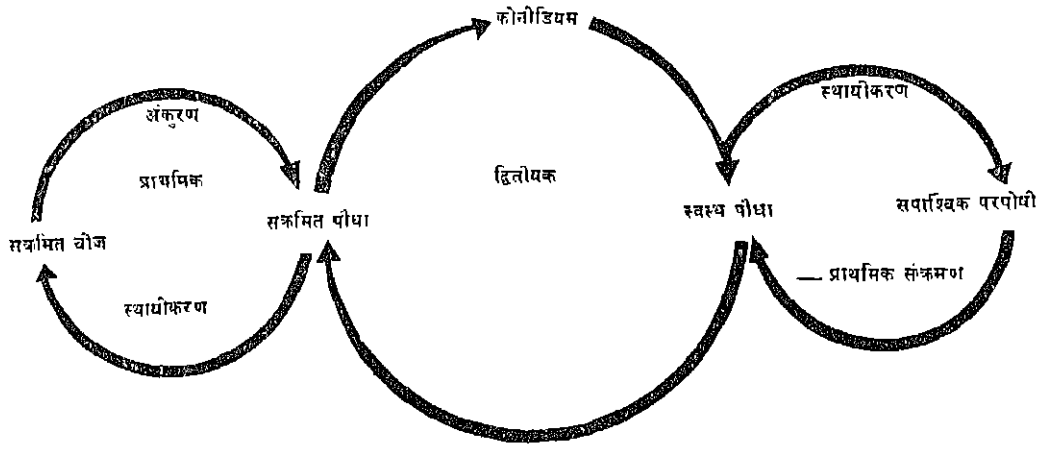
चित्र 28.9 : धान के प्रध्वंस (ब्लास्ट) रोग का जीवन-चक्र (वातोढ़—एयर बोर्न)।

चित्र 28.10 : धान का प्रध्वंस (ब्लास्ट) रोग। पौधे के शरीर के विभिन्न क्षेत्रों में रोग के लक्षण दिखलाए गए हैं।

आक्रमण होने पर बाली खेत में झड़ जाती है। दाने रीते ही रह जाते हैं और भूसेदार हो जाते हैं (चित्र 28.10)।

रोग-चक्र : प्रकृति में संक्रमण का उद्भव अभी भी साफ तौर से ज्ञात नहीं है। पहाड़ों में यह कवक पूरे जाड़े भर संक्रमित पुआल और पौधे के अन्य प्रकार के कचरे में जीवनक्षम बना रहता है और इस तरह रोग चक्र को चलाता है। लेकिन मदानों में, गरमियों के पूरे मौसम में पौधों के भागों अथवा भूमि में इसके जीवित रहने के मौके बहुत कम होते हैं। यह अभी ठीक ठीक मालूम नहीं है कि मैदानों में एक मौसम से दूसरे मौसम में रोग-चक्र कैसे चलता है। रोगजनक के प्रसार और बिखराव के सबसे महत्वपूर्ण साधन हैं वातोढ़ कोनीडियम। यह बिखराव उन बीजों, पुआल और कोनीडियमों से भी हो सकता है जो सिंचाई वाले पानी में गिरते हैं। केन्द्रीय धान अनुसंधान संस्थान (सैन्ट्रल राइस रिसर्च इन्स्टिट्यूट सी०आर०आर०आई०), कटक में किए गए अनुसंधानों से पता चला है कि करीब एक हफ्ते तक रात का तापमान 20° से 25° सेन्टीग्रेड और आपेक्षिक आर्द्रता (नमी) 90% या इससे ऊपर रहे तो रोग के शुरू होने की ये आदर्श दशाएँ हैं। वृद्धि की संवेदनशील प्रावस्थाएँ (फेजेज) हैं या तो नवोद्भिद अवस्था या दौजी अवस्था (टिलरिंग स्टेज) या फूल निकलने वाली अवस्था।

नियंत्रण : फसल पर ब्लास्टिसिडिन नामक प्रति-जैविक (ऐन्टीबायोटिक) का छिड़काव किया जाता है। खेती के लिए जिन रोधी किस्मों की सिफारिश की जाती है वे हैं—सी०ओ० 4 (Co4), सी०ओ० 25(Co 25), टी० 141 (T 141)।

(11) गेहूँ के किट्ट (रस्ट)

रोगजनक : (तने के काले किट्ट का) पक्सीनिया, ग्रेमिनिस ट्रिटिसी (कवक)

भारत में होने वाले अन्य रोगों की अपेक्षा गेहूँ के किट्ट रोग पर सबसे अधिक कार्य हुआ है, और इनका विस्तृत अध्ययन के० सी० मेहता द्वारा किया गया है। गेहूँ के किट्ट निम्नलिखित हैं :

(क) काला स्तम्भ किट्ट (ब्लैक स्टेम रस्ट)।

(ख) पत्ती का भूरा किट्ट (ब्राउन लीफ रस्ट)।

(ग) पीली धारियों वाला किट्ट (यलो स्ट्राइप रस्ट)।

यहाँ पर काले किट्ट रोग का विस्तार में वर्णन किया जा रहा है।

लक्षण : यूरीडियमपुंजों (यूरीडोसोरी) के भूरे स्फोट या फफोले जैसी रचनाएँ पत्तियों, पर्णच्छदों और तने पर दिखलाई देने लगती हैं। ये स्फोट (पुस्ट्यूल) या फफोले - जैसी रचनाएँ वृद्धि करके और मिलके बड़े गहरे भूरे विक्षत (लेज़न) बना लेती हैं। पौधे की लम्बाई कम हो जाती है और कम तलशाखन (टिलरिंग) के कारण दाने पतले व झुर्रीदार होते हैं (चित्र 28.11)।

रोग-चक्र : प्राथमिक संक्रमण के स्रोत हैं यूरीडो-बीजाणु (यूरीडोस्पोर) जो पहाड़ों पर उगाई जाने वाली गेहूँ की फसल पर साल भर अलैंगिक (एसेक्सुअल) रूप से बनते हैं। हवा द्वारा उड़ाए जाने वाले ये यूरीडो-बीजाणु मैदानों में पहुँच कर गेहूँ की फसलों का संक्रमण करते हैं। इस कवक को लैंगिक (सैक्सुअल) जीवन-चक्र पूरा करने के लिए एकान्तर (आल्टर्नेट) परपोषी पौधे **बरबेरिस वल्गेरिस** की आवश्यकता पड़ती है। लेकिन
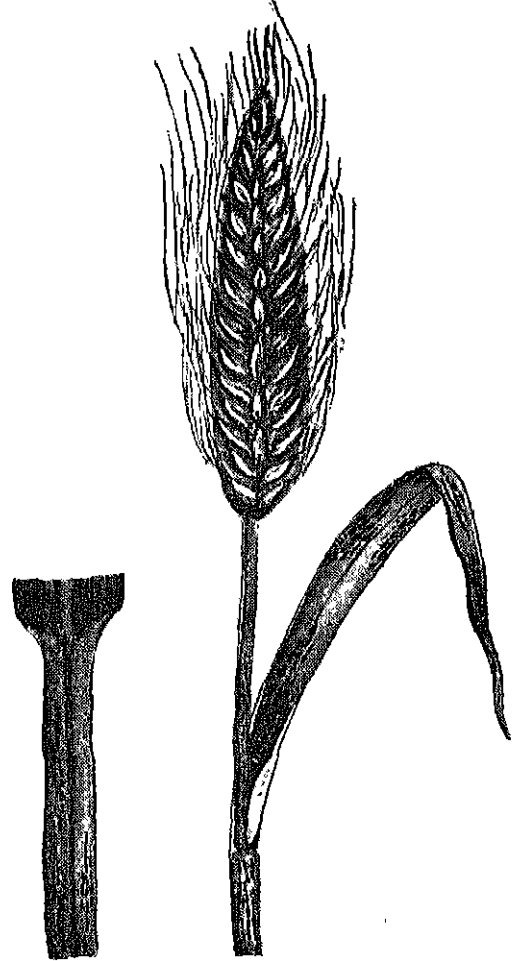
चित्र 28.11 : गेहूँ के तने का काला किट्ट (रस्ट)। पत्ती की सतह और पर्णच्छद (लीफ शीथ) पर रोग के लक्षण दिखलाई दे रहे हैं।

पौधे की यह जाति भारत में नहीं पाई जाती, इसलिए कवक का जीवन-चक्र पूरा नहीं हो पाता। अतः संक्रमण मुख्य रूप से यूरीडोबीजाणुओं के द्वारा ही होता है।

नियंत्रण : इसके लिए भारत में किट्ट रोधी (रस्ट रेसिस्टेन्ट) किस्में उगाई जाती हैं।

(12) कॉफी किट्ट

रोगजनक: हेमीलेइया वेस्ट्राफिक्स (कवक)।

हेमीलेइया वेस्ट्राफिक्स द्वारा होने वाला किट्ट दक्षिण भारत की अरेबिका कॉफी का बड़ा भयानक रोग है।

लक्षण : पत्तियों की सतहों पर बीजाणुओं (स्पोर) सहित नारंगी पीले धब्बों के साथ-साथ ऊपरी सतह पर सूखे भूरे धब्बे भी दिखलाई देते हैं। संक्रमण की उग्रता में पत्तियाँ झड़ जाती हैं (चित्र 28.12)।

नियंत्रण : विभिन्न किट्टों (रस्टों) के प्रति रोधी किस्मों वाले विभेद (स्ट्रेन) विकसित करके और इस रोग का नाश करके हमारे देश ने काफी अधिक प्रगति की है। ताँबे के कवकनाशियों (फंगिसाइड) का भी बहुतायत से प्रयोग होता है। मंजरी या फूलों की वृष्टि के एक महीने बाद पत्तियों की निचली सतह पर बोर्डो मिश्रण (2: 2: 50) का छिड़काव किया जा सकता है।

(घ) पौधे के भागों द्वारा फैलने वाले रोग

कुछ रोग हर साल पौधे के भागों या कीटों के द्वारा संचरित होते हैं। इनके प्रसिद्ध उदाहरण ये हैं :

(13) चाय का फफोला अंगमारी, (14) केले का गुच्छित चूड (रोग), (15) आलू मोजेक, और
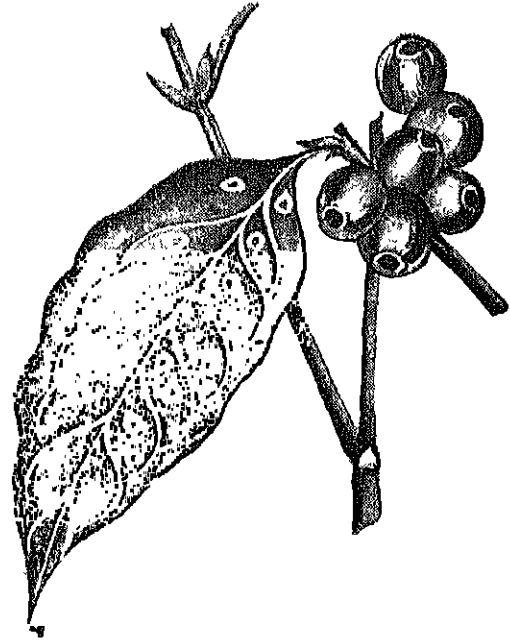
चित्र 28.12 : कॉफी किट्ट (रस्ट), पत्ती की सतह पर रोग के लक्षण।
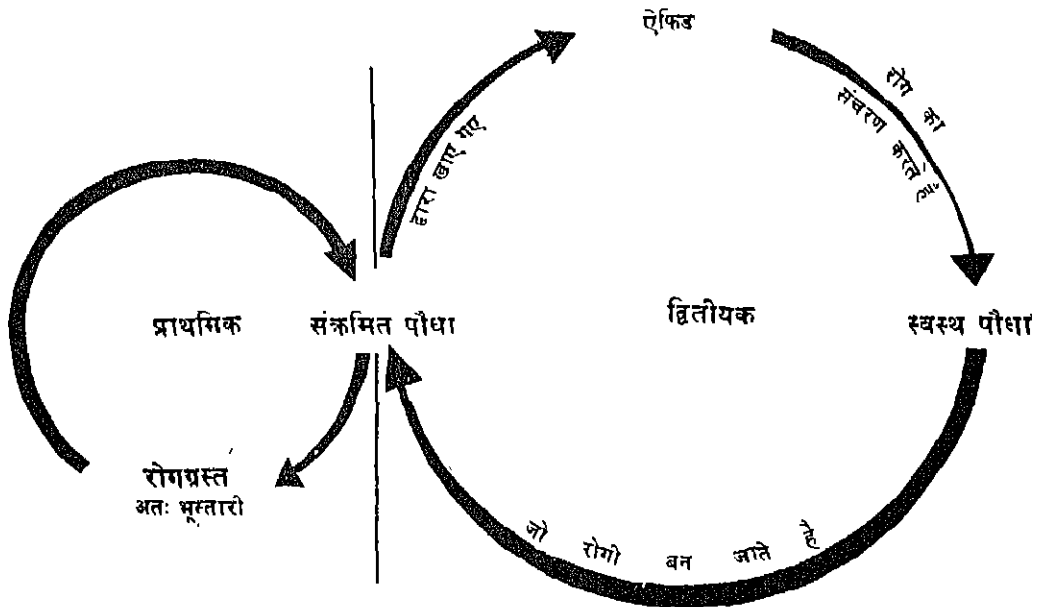
चित्र 28.13 : केले का गुच्छित चूड (बंची टॉप) का रोग चक्र। (कीट और पौधों के भाग)।

(16) आम की कुरचना। पौधों में विषाणुओं (वाइरसों) वाले रोगों का संचरण कीटों के माध्यम से होता है। केले के गुच्छित चूड का रोग चक्र (विषाणविक—वाइरल) चित्र 28.13 में दिखाया गया है।

(13) चाय का फफोला अंगमारी (ब्लिस्टर ब्लाइट)

रोगजनक : एक्सोबेसीडियम वेक्सैन्स

लक्षण : पत्तियों पर छोटे पीले धब्बे बन जाते हैं। पत्ती की ऊपरी सतह में एक उथला गर्त (गड्ढा) बन जाता है और निचली सतह हरी-सफेद बन जाती है जिसमें बीजाणु (स्पोर) होते हैं (चित्र 28.14)।

रोग-चक्र : यह रोगजनक अविकल्पी परजीवी (आब्लीगेट पैरासाइट) होता है और चूँकि चाय की फसल चिरस्थायी होती है और साल भर चलती है इसलिए निवेश द्रव्य (इनॉकुलम) पौधों में विशेष क्षेत्री (एन्डीमिक) रूप में बना रहता है।

नियंत्रण : एक हफ्ते या दस दिन में एक बार पेरीनॉक्स (प्रति एकड़ 15 गैलन पानी में 6 औंस) फुहारना चाहिए या 4% क्यूप्रोसन (प्रति एकड़ 10 पौंड) की धूलि छिड़कनी चाहिए।

(14) केले का गुच्छित चूड (बंची टॉप) रोग

रोगजनक : केले का विषाणु (वाइरस)

केले का यह गुच्छित चूड रोग पूर्वी और दक्षिणी भारत में होता है।

लक्षण : ग्रस्त या रोगी पौधे प्रायः कम बढ़ते हैं और सभी पत्तियाँ शीर्ष पर एक घने गुच्छे या स्तव (रोज़ेट) के रूप में परिवर्धित होती हैं। आरम्भिक प्रावस्था के दौरान मध्य शिरा (मिड रिब), डंठल और निचली सतह पर हरी धारियाँ दिखाई देने लगती हैं, और तनिक हरितहीनता (क्लोरोसिस) के साथ-साथ पत्तियाँ भी मुड़ जाती हैं।

रोग-चक्र : संक्रमण रोगी अंतः भूस्तारियों (सकर) के रोपण से होता है। पौधे की वृद्धि के दौरान द्वितीयक संक्रमण एक एफिड (**पेन्टालोनिया निग्रोनर्वोसा**) के द्वारा होता है।
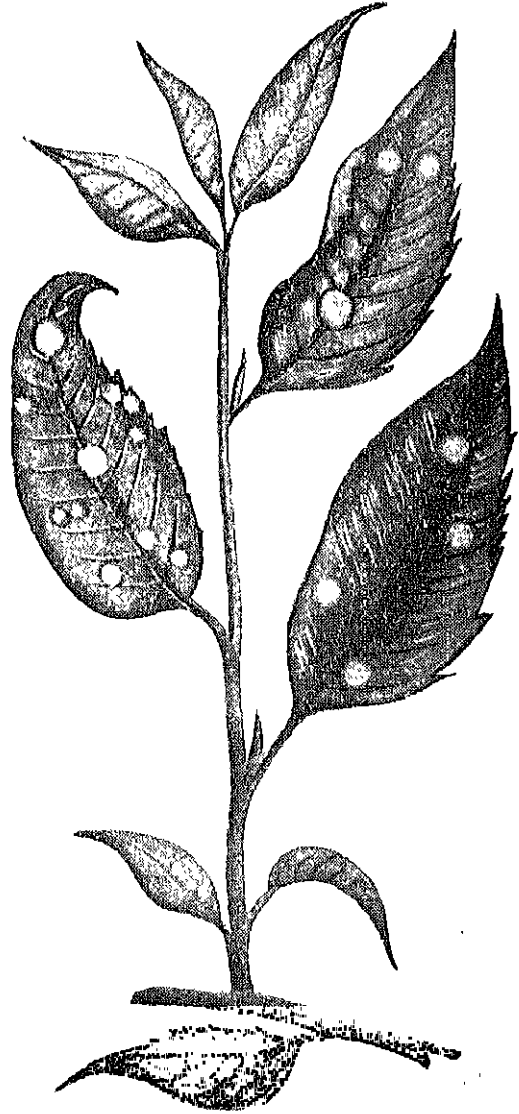
चित्र 28.14 : चाय का फफोला अंगमारी (ब्लिस्टर ब्लाइट)।

नियंत्रण : रोगी पौधों को उखाड़ कर जला दिया जाना चाहिए। रोपण या प्रसार करने के पहले सामग्री की अच्छी तरह से जाँच कर ली जानी चाहिए।

(15) आलू मोज़ेक (पोटेटो मोज़ेक)

रोगजनक : आलू विषाणु X(पोटेटो वाइरस X), या सोलेनम वाइरस I

आलू के कई विषाणविक (वाइरल) मोज़ेक रोग हैं। यहाँ हम एक गुप्त मोज़ेक (लेटेन्ट मोज़ेक) पैदा करने वाले आलू के विषाणु X यानी पोटेटो वाइरस X का वर्णन करेंगे।

लक्षण : इस रोग का विशेष लक्षण है पत्तियों का कर्बुरण (मौटलिंग) यानी चितकबरापन। पौधे की वृद्धि कम हो सकती है। पत्तियों और कंदों (ट्यूबर) में ऊतकक्षयी (नेक्रोटिक) चकत्ते भी दिखाई दे सकते हैं (चित्र 28.15)।

रोग-चक्र : खेत की दशाओं में रोग सम्पर्क के द्वारा फैलता है और विषाणु (वाइरस) रस के द्वारा संचरित होता है।

नियंत्रण : रोधी किस्में उगायी जानी चाहिए जो संक्रमण को काफी अधिक सीमा तक नष्ट कर देती हैं।

चित्र 28.15 : आलू का मोज़ेक रोग।

(16) आम की कुरचना (मैंगो मैलफौर्मेशन)

रोगजनक : ईरियोफाइसीज़ स्पी॰तथा टाइरोफैगस कैस्टेलानी (चिचड़ी—माइट)

आम के पौधे की कुरचना एक ऐसा विकार है जो उत्तरी भारत में बहुत होता है। यह कुरचना चिचड़ियों यानी माइटों (ईरियोफाइसीज़ स्पी॰, टाइरोफैगस कैस्टेलानी) के ग्रसन के कारण उत्पन्न होती है जिससे वृद्धि अपसामान्य होती है।

लक्षण : संक्रमित पौधों की फूल वाली शाखाएँ शंकु बनाकर गुच्छे में हो जाती हैं। पुष्पावलि वृंत (पीडंकल) मोटा व गूदेदार तथा अधिक शाखाओं वाला हो जाता है। जननक्षम फूल दुर्लभ हो जाते हैं। सारा पुष्पक्रम (इनफ्लोरेसेन्स) काला पड़ जाता है। फल कभी बनते ही नहीं और फूलों के स्थान पर असंख्य छोटी पत्ती-जैसी संरचनाएँ उत्पन्न हो जाती हैं जिससे कूर्चीसम रोग (विचेज ब्रूम) का आभास होता है। पत्ती जैसी रचनाओं का प्रत्येक समूह कुरचित पुष्पक (फ्लोरेट) को चित्रित करता है।
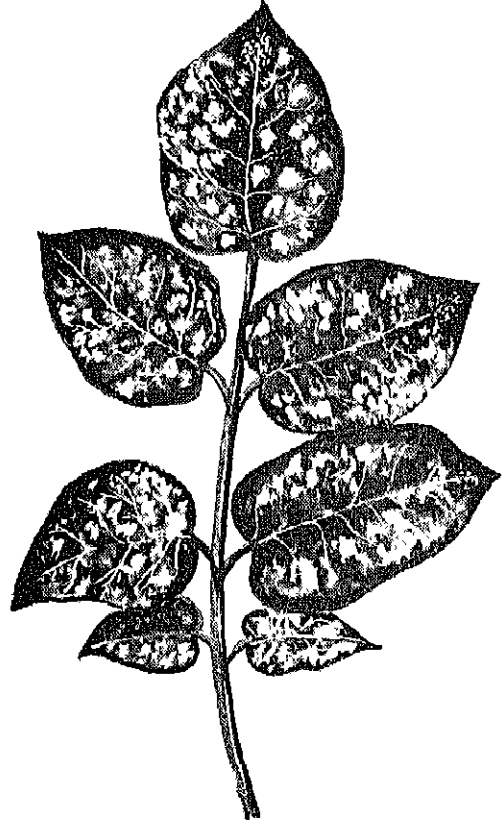
नियंत्रण : ग्रसित या रोगी टहनियों का सुनियोजित प्रकार से निराकरण करने से रोग-प्रसार पर नियंत्रण रहता है। कीटनाशियों या इनसेक्टीसाइडों (बासुडिन, इकेटिन, सिस्टाउ आदि) को फुहारने से चिचड़ियों का नाश हो जाता है।

अभ्यास

1. टमाटर के मूल-ग्रंथि या जड़ों की गाँठों वाले रोग को दर्शाने वाला चित्र बनाओ और इसका रोगजनक (पैथोजेन) बतलाओ। इस रोग का नियंत्रण कैसे होता है ?
2. किट्ट (रस्ट) क्या है ? गेहूँ के काले तने के किट्ट (ब्लैक स्टेम रस्ट) के लक्षणों का वर्णन करते हुए इसके नियंत्रण उपाय बताओ।
3. केवल नामांकित चित्रों की सहायता से निम्नलिखित के लक्षण दिखलाओ : धान का प्रध्वंस (ब्लास्ट) रोग, धान का जीवाणविक अंगमारी (बैक्टीरियल ब्लाइट), कॉफी किट्ट (रस्ट) और बाजरे का कंड रोग (स्मट)।

अध्याय-29

पौधों के पीड़क (पेस्ट)

पीड़क या पेस्ट वे प्राणी अथवा पौधे हैं जो खेती के पौधों या पौधों के उत्पादों को क्षति पहुँचाते हैं। मोटे तौर पर कह सकते हैं कि बोआई, कटाई भंडारण और उपभोग के बीच पीड़कों के कारण खेतों से प्राप्त होने वाली संभावित उपज का एक-तिहाई तो यूँ ही नष्ट हो जाता है। विश्व की आलू की औसत वार्षिक उपज 20 करोड़ टन आँकी जाती है। यदि इसके 4% का भी नुकसान हो तो इसका मतलब हुआ 80 लाख टन का नुकसान। अर्थव्यवस्था की हानि के अतिरिक्त, यह कितना बड़ा नुकसान है कि इतना कीमती भोजन बेकार चला जाता है। हमारे देश में विशेष रूप से धान और गेहूँ जैसी प्रमुख खाद्य फसलें संक्रमण के कारण केवल खेतों में ही नष्ट नहीं होतीं बल्कि भंडारों या अन्नागारों में कृंतक प्राणियों (रोडेन्ट) और संक्रमण द्वारा इनका उपभोग और/या नाश किया जाता है। इस तरह अन्न के प्रत्येक किलो के नुकसान या नाश के बजाय निश्चित ही है कि यदि नाश न होता तो किसी परिवार का भरण पोषण होता। इसलिए अपनी खेती के पौधों में सुधार का लाना ही महत्वपूर्ण नहीं है बल्कि इससे भी अधिक जरूरी यह है कि हमें पीड़कों से फसलों की रक्षा के लिए खेतों तथा संग्रहागारों (स्टोर हाउस) दोनों स्थानों पर सचेत और सावधान रहना पड़ेगा, और यह तभी संभव है जब हम विविध फसलों के विभिन्न पीड़कों की पूरी जानकारी हासिल कर लें। दूसरे शब्दों में अपनी फसलों की जानकारी ही पर्याप्त नहीं बल्कि उनके पीड़कों और उनके नियंत्रण-उपायों की जानकारी भी उतनी ही जरूरी है। पीड़कों को सामान्यतया निम्नलिखित प्रकार से वर्गीकृत किया जाता है :

(i) **संधिपाद** (आर्थोपोड) (संधिपाद अकशेरुकी—ज्वाइंटफूटेड इनवर्टिब्रेट)।

  (क) टिड्डे, इल्ली (कैटरपिलर), गंधी, बग, मक्खी, भृंग (बीटल), कपास गोलक शलभ, चिचड़िया, खपड़ा बीटल, धान का घुन, लाल धान्य भृंग, लघु धान्य वेधक (बोरर), दाल भृंग, ऐंगुमॉइस धान्य शलभ (मौथ), आदि कीट।

  (ख) केकड़े (क्रैब) सरीखे अन्य संधिपाद (आर्थोपोड) जो कीट नहीं हैं।

(ii) **मोलस्क**—घोंघा (स्नेल), कम्बु (स्लग)।

(iii) **स्तनी**—कृंतक (रोडेन्ट), बंदर, जंगली हाथी आदि।

(iv) **पक्षी**—कबूतर, तोता, गौरैया, कौआ।

(i) संधिपाद (आर्थोपोड)

आर्थोपोड जुड़े पद वाले प्राणी हैं। इनमें टिड्डे, इल्लियाँ (कैटरपिलर), बग, मक्खी, भृंग (बीटल) आदि कीट आते हैं। ये कृषि, वनों और पशुधन को भीषण

क्षति पहुँचाते हैं। ये कीट तने में वेधन करके अन्दर पहुंच जाते हैं, फलों व फूलों को खाते हैं, अन्य रोगजनक (पैथोजेन) जीवों के लिए प्रवेश मार्ग बनाते है, आविषालु यानी विषैले पदार्थों का उत्सर्जन करते हैं और विषाणु या वाइरस रोगों का संचरण करते हैं।

कीटों का नियंत्रण कीटनाशियों (इनसेक्टीसाइड) को फुहार कर किया जाता है। अशन या भोजन करते समय भोजन के साथ कीटनाशियों का पीड़कों (पेस्ट) के शरीर में शोषण हो जाता है या विष का सम्पर्क अथवा स्पर्श होते ही इन पर ऐसा असर पड़ता है कि ये मर जाते हैं।

चिचड़िया (माइट) अधिकांशतया शाकीय पौधों पर आक्रमण करती हैं। ये पत्तियों से रस चूसती हैं। संक्रमित पत्तियों पर शुरू में सफेद चकत्ते दिखलाई देते हैं जो मृत्यु तक भूरे रंग के हो जाते हैं। पत्ती की निचली सतह पर जाल बुन लिया जाता है, जिसके अन्दर अंडे दिए जाते हैं और फिर अंडों से डिम्भक (लार्वा) निकलते हैं।

चिचड़ियों का नियंत्रण डी० एन० ओ० सी० (DNOC) सम्पाक वाली फुहारों और कार्बफासफोरस (आर्गनोफासफोरस) यौगिकों, ऐकेरस नाशियों (ऐकेरिसाइडों) के द्वारा होता है। ये कीट पौधे के भागों का भोजन के रूप में उपयोग करते हैं, अन्दर प्रवेश कर जाते हैं और आविषालु (टौक्सिक) या विषैले पदार्थों का स्रावण करते हैं। डिम्भक (लार्वा) पत्तियों का आहार करते हैं।

केकड़े भूमि तल पर तरुण पौधों को काटकर धान की फसल को भीषण क्षति पहुँचाते हैं। इनको हाथ से पकड़कर या पात्रों में चारा (बेट) रखके पाश बनाकर या बिलों में 50% डी० डी० टी० भात के साथ मिलाकर रखने से इनका नियंत्रण किया जाता है।

(ii) मोलस्क या मृदुकवची (घोंघे और कंबु या स्लग)

पौधों की सतहों पर श्लेष्माभ पथ (स्लाइम ट्रेक) घोंघों की विशेषता है। ये प्राणी रेतन (रेस्पिंग) प्रकार की भोजन विधि से क्षति पहुँचाते हैं। ये मुलायम पत्तियों, नवोद्भिदों (सीडलिंग), मुलायम छाल और झड़े हुए फलों का आहार करते हैं। हाथ से चुन और पकड़कर तथा मेटेल्डीहाइड सरीखे मोलस्कनाशियों (मोलस्किसाइड) द्वारा इनका नियंत्रण और नाश किया जाता है। मेटेल्डीहाइड को आटे के चोकर के साथ पाश (बेट) वाले चारे के रूप में भी प्रयुक्त किया जा सकता है। घोंघों पर कॉस्टिक उर्वरकों के अनुप्रयोग से नियंत्रण रहता है।

(iii) स्तनी (चूहे, खरगोश, जंगली हाथी आदि)

चूहे (रैट) और मूषक (माउस) हमारी फसलों को खेत और भंडारण दोनों में काफी क्षति पहुँचाते हैं। ये अन्न का उपभोग तो करते ही हैं साथ ही भंडारित उत्पादों का प्रदूषण (पाल्युशन) भी कर देते हैं। ये कई रोगों के वाहक भी होते हैं। इन प्राणियों की फुरती वाली गति और छिप-छिपाव वाले तरीकों से इनको नियंत्रित करना कठिन हो जाता है। जिंक फास्फाइड को भोजन के साथ मिलाकर और विलोमक या चारे के रूप में रखने पर चूहों को मारा जा सकता है। बंदर और लंगूर, विशेष रूप से, झुंड में सब्जी और फलों के बगीचों पर आक्रमण करते हैं। खरगोश, हिरन और जंगली हाथी भी समूह में पहुँचकर फसलों को क्षति पहुँचाते हैं।

(iv) पक्षी

घर की गौरैया, तोते, कबूतर और कौवे सरीखे कई पक्षी धान्यों या बीजों, फलों आदि का आहार करते हैं। पाश (ट्रैप) द्वारा इनको पकड़कर, इनके छिपने के स्थानों को मिट्टी से बन्द कर, घोंसलों से अंडे निकाल कर, कागभगोड़ों का प्रयोग कर और भगाने के लिए मरी चिड़ियों का प्रदर्शन कर इनका नियंत्रण किया जाता है। लेकिन यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि इनमें से कुछ पक्षी कीटों को खाकर उनकी आबादी को कम रखते हैं। इसलिए इनके नियंत्रण के तरीकों को अपनाने से पहले उन पर विवेक से सोच-विचार कर लेना चाहिए। गौरैयों और कौवों को स्ट्रिकनिन, आर्सेनिक और फास-

फोरस से विषाक्त किए गए मांस या अंडों के चारे से नियंत्रित किया जा सकता है। ये विष अन्य प्राणियों पर भी असर दिखलाते हैं। इसलिए इन विलोमकों के प्रयोग में काफी सावधानी बरतनी चाहिए।

कुछ महत्वपूर्ण पादप-पीड़क (प्लान्ट पेस्ट)

(1) धान का तना वेधक (स्टेम बोरर) (शीनोबियस इनसर्टुलस)

यह धान का बड़ा महत्वपूर्ण पीड़क है (चित्र 29.1)। हल्के पीले रंग के इस शलभ के अगले पंखों में काले धब्बे होते हैं। इस कीट का डिम्भक (लार्वा) धान के पौधों के तने को वेधकर अन्दर घुस जाता है। बीच का प्ररोह या तना मुरझाकर अन्दर के भाग को नष्ट कर देता है।
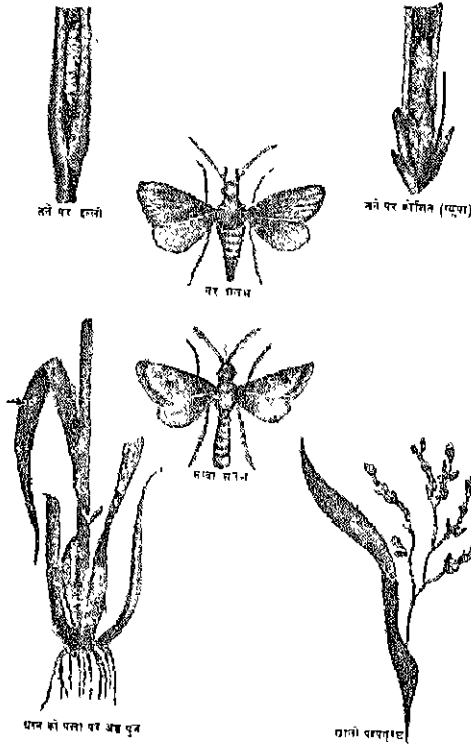
चित्र 29.1 : धान का तना वेधक (स्टेम बोरर)।

नियंत्रण : अंडों को नष्ट करने के लिए फसल के बाद ठूँठों को नष्ट कर देना चाहिए। प्रतिरोपण (ट्रान्सप्लान्टेशन) के पहले नवोद्भिदों को डी०डी०टी० के 0.1 प्रतिशत विलम्बन में उपचारित करना चाहिए। फिर खेत में पकी फसल को 0.025% पैराथायोन या 0.08% एन्ड्रिन द्वारा प्रति एकड़ 270 से लेकर 360 लिटर की दर से फुहारा जाना चाहिए।

(2) धान का टिड्डा या धान का भूरा पादप बोंका (हाइरोग्लिफस बनियन)

यह कीट धान की फसल की पत्तियों और मुलायम दानों को खाता है। शिशु या अर्भक (निम्फ) तथा प्रौढ़ दोनों ही पौधों को खाते हैं।

नियंत्रण : प्रत्येक फसल के बाद गहरा हल चलाकर इनका नियंत्रण किया जा सकता है। प्रति एकड़ 90 लिटर की दर से पौधों पर 5 से 10% बी० एच० सी० की धूलि भी छिड़कनी चाहिए। प्रति एकड़ 270 से 360 लिटर की दर से 0.02% एल्ड्रिन फुहारने से पीड़कों पर नियंत्रण रहता है।

(3) गंधी बग या धान का बग (लेप्टोकोराइजा वेरीकौर्निस)

प्रौढ़ बग छरहरा हल्का भूरा, 14 मिमी० लम्बा और बारीक टाँगों वाला होता है। यह मुलायम दानों से दूधिया रस चूसता है। कभी-कभी तो इसके द्वारा फसल पूरी तरह से ही नष्ट कर दी जाती है।

नियंत्रण : पौधों को इस तरह हिलाया जाना चाहिए कि तरुण या नन्हें अर्भक (निम्फ) नीचे पानी में गिर जाएँ। बी०एच०सी० (बेंजीन हेक्साक्लोराइड) को 5% तक तनुकृत या हल्का करने और प्रति एकड़ 5.5 से 6.8 किग्रा० डालने से शिशुओं या अर्भकों का नाश हो जाता है।

(4) कपास का चित्तीदार गोलक शलभ (स्पॉटेड बॉलवर्म) (ईरियास फेबिया)

यह एक छोटी व गठे बदन की भूरी इल्ली (कैटरपिलर) है जो आरम्भिक अवस्था में कपास के पौधे के
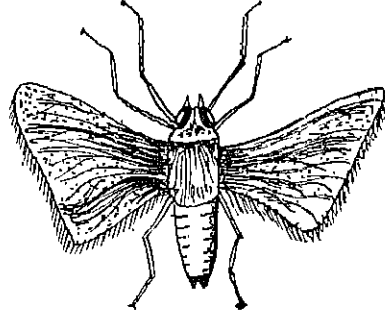
चित्र 29.2 : कपास का चित्तीदार गोलक शलभ (स्पॉटेड बॉल वर्म) ।
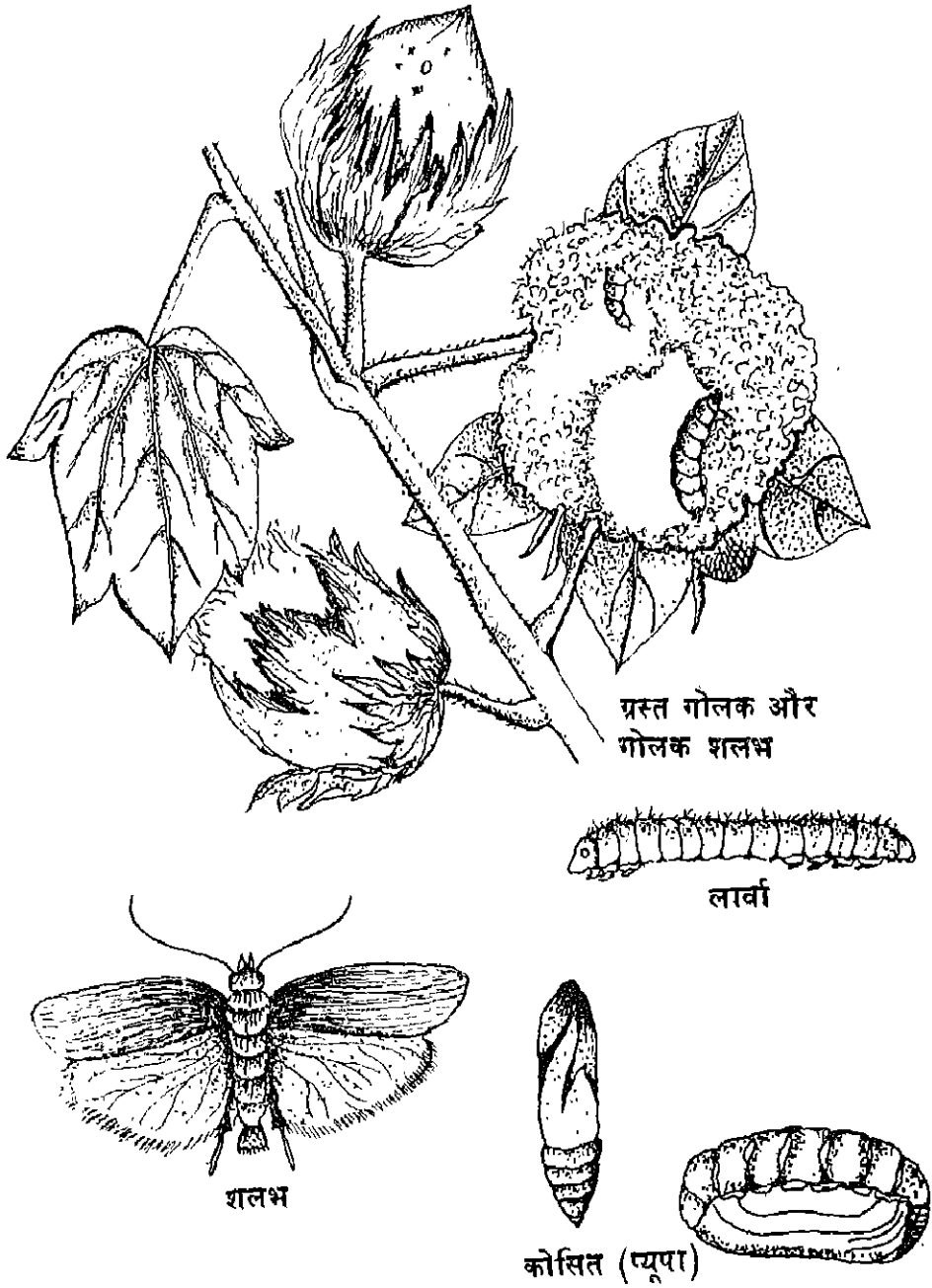
चित्र 29.3 : कपास का गुलाबी गोलक-शलभ (पिंक बॉल वर्म)।
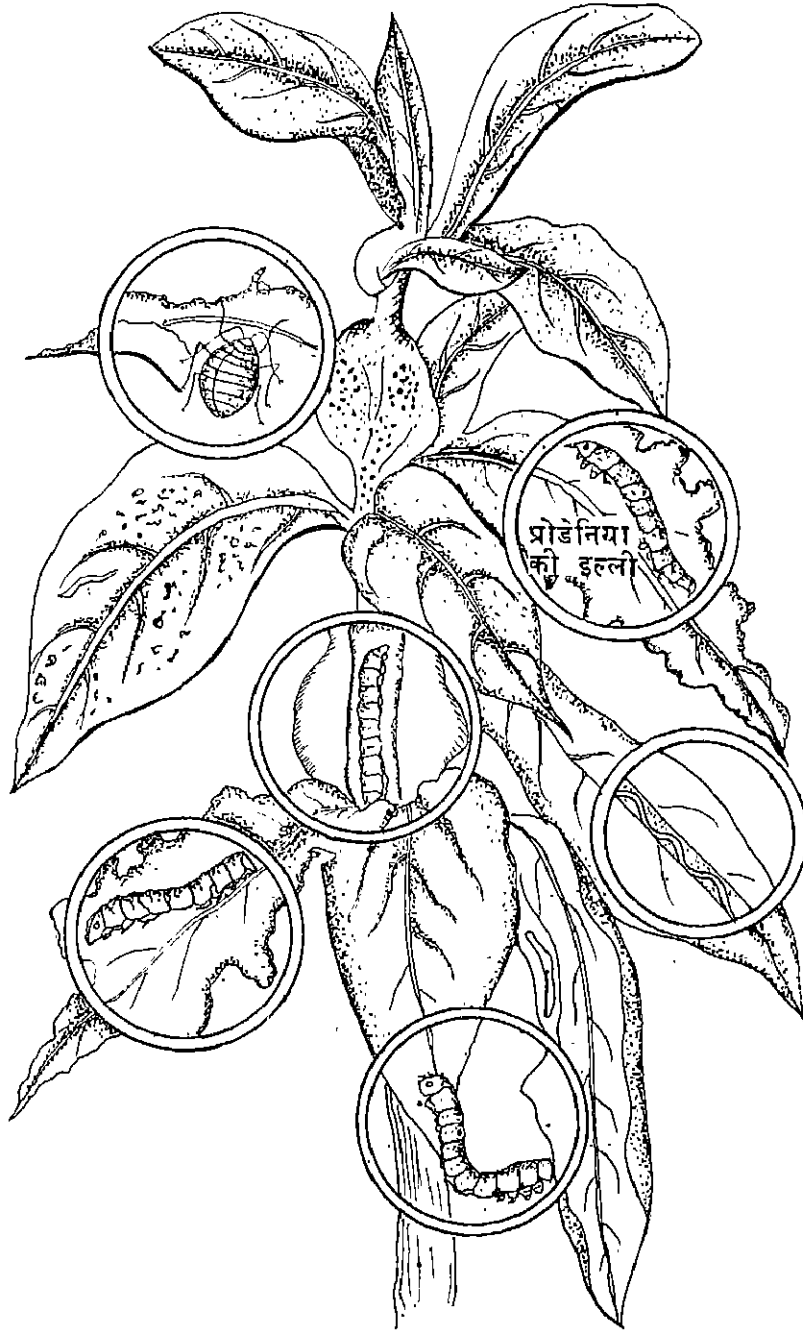
चित्र 29.4 : तंबाकू के पीड़क और रोग।

ऊपरी प्ररोह या तने वाले भागों को वेध कर अन्दर पहुँच कर बाद मे गोलकों या गोलों में पहुँच जाती है (चित्र 29.2)। इससे प्ररोह या तने के ऊपरी भाग नीचे की ओर झुक जाते हैं और गोले झड़ जाते हैं। प्रौढ़ अवस्था में यह शलभ (मॉथ) फीका सफेद होता है जिसका पंख विस्तार यानी पंख का फैलाव 25 मिमी० होता है।

नियंत्रण : संक्रमित तने के भागों और गोलकों को नष्ट कर दिया जाना चाहिए। फसल के बाद सभी ठूँठों को अलग कर देना चाहिए। पन्द्रह दिन के अंतराल पर 0.03% एन्ड्रिन को प्रति एकड़ 350 से 450 लिटर की दर से फुहारना चाहिए।

(5) कपास का गुलाबी गोलक शलभ (पिंक बॉल वर्म) (पेक्टिनोफोरा गोसिपिएला)

यह एक छोटे आकार का गहरा भूरा शलभ है, जिसके पंखों में भिन्न-भिन्न आकार के कई काले धब्बे होते हैं। इसके पंखों का विस्तार 12.5 मिमी० होता है। फीके या गहरे गुलावी रंग की यह इल्ली गोलकों और बीजों को वेधकर अंदर पहुँच जाती है और फिर गोलकों के अन्दर ही यह कोशित या प्यूपा में बदल जाती है (चित्र 29 3)।

नियंत्रण : झड़ी हुई कलियों और गोलकों को अलग कर देना चाहिए। इस पीड़क के नियंत्रण के लिए 20% एन्ड्रिन या 0.2% फोलीथायोन की फुहार करनी चाहिए।

(6) नारियल-इल्ली (कोकोनट कैटरपिलर) (निफेन्टिस सेरीनोपा)

यह नारियल का खतरनाक पीड़क है जो पश्चिम मे कुमारी अंतरीप से लेकर बम्बई तक और पूर्व में मद्रास से लेकर बंगाल तक के समुद्रतटीय क्षेत्रों में पाया जाता है। प्रौढ़ शलभ मध्यम आकार का होता है जिसके पंखों का विस्तार 20-25 मिमी० तक होता है। इल्ली हरे रंग की होती है जिसमें रोमों का विरल आवरण होता है। यह पत्तियों को खाती है। ग्रस्त पौधों को दूर से ही उनके प्रपर्णों (फ्रौन्ड) के झुलसे रूप से पहचाना जा सकता है।

नियंत्रण : ग्रस्त प्रपर्णों (फ्रौन्ड) को नष्ट किया जाना चाहिए। प्रति वृक्ष 4.5 से 9 लिटर की दर से 0.2% डी० डी० टी० फुहारा जाना चाहिए।

(7) तंबाकू की इल्ली (टोबैको कैटरपिलर) (प्रोडेनिया लिटुरा)

यह मोटा व काला शलभ (मॉथ) है, जिसके अग्र या अगले पंखों में सफेद लहरदार निशान होते हैं (चित्र 29.4)। ये इल्लियाँ पत्तियाँ खाती हैं।

नियंत्रण : प्रति एकड़ 7 से 10 किग्रा० की दर से 10% बी०एच०सी०, 5% डी० डी०टी० या 2% पैराथायोन की धूलि का छिड़काव किया जाना चाहिए।

धान और दालों के गोदाम वाले पीड़क

(8) खपड़ा भृंग (ट्रोगोडर्मा ग्रैनेरियम)

यह भूरा व अंडाकार भृंग या बीटल है, जो आकार में 2.5 मि०मी० लम्बा होता है (चित्र 29.5)। इसके

चित्र 29.5 : खपड़ा भृंग (बीटल) के डिम्भक।

भृंगक (ग्रब) यानी डिम्भक भूरे सफेद होते हैं जिनके शरीर के चारों ओर लाल भूरे रंग के रोमों के गुच्छे होते हैं। ये धान्यों तथा दालों को खाते हैं। फिर भी गोदाम में इनका आक्रमण ऊपर की परत तक ही सीमित रहता है।

(9) धान का घुन (राइस वीविल) (कैलेण्ड्रा ओरिजी)

2.5 से०मी० लम्बाई वाला यह छोटा जंतु (चित्र 29.6) लाल भूरे रंग का होता है और पूरे विश्व में पाया जाता है। धान के साथ-साथ इसके प्रौढ़ और भृंगक (ग्रब) सभी धान्यों और ज्वार-बाजरे का आहार करते हैं।

(10) लाल धान्य भृंग (रेड ग्रेन बीटल) (ट्राइबोलियम कैस्टेनियम)

लाल भूरा 1.5 मि०मी० लम्बा यह भृंग या इसके फीके पीले रंग के भृंगक (ग्रब) या शिशु धान्यों, ज्वार-बाजरे, दालों, मूँगफली, मेवों, आदि के खुले दानों और आटे पर पोषण प्राप्त करते हैं। इस कीट को आटे का लाल भृंग (रस्ट रेड फ्लोर बीटल) भी कहा जाता है।

(11) लघु धान्य वेधक (लेस्सर ग्रेन बोरर) (राइज़ोपर्था डोमनिका)

1.5 मि०मी० लम्बाई का यह भृंग (बीटल) रंग में काला या भूरा काला होता है जिसका गोलाकार सिर धान्यों, दालों और ज्वार-बाजरे के दाने में वेधन करके उनको नष्ट कर देता है। इन भृंगों के शिशु या भृंगक (ग्रब) सफेद रंग के होते हैं।

(12) धान का शलभ (राइस मॉथ) (कॉरसिरा सेफेलोनिका)

यह गहरे धूसर रंग का शलभ है जो भंडार घरों और गोदामों में कहीं भी अंडे दे सकता है। ये अंडे पाँच दिन के अन्दर क्रीमी सफेद इल्लियों में फूट जाते है, जो दानों पर पोषण प्राप्त करती हैं और दानों में छेद कर देती हैं। इल्ली एक रेशमी जाल बुन लेती है जिसमें दाने आदि के टुकड़े भी लगे रहते हैं। यह शलभ (मॉथ) तिलहनों और मेवों पर भी आक्रमण करता है।
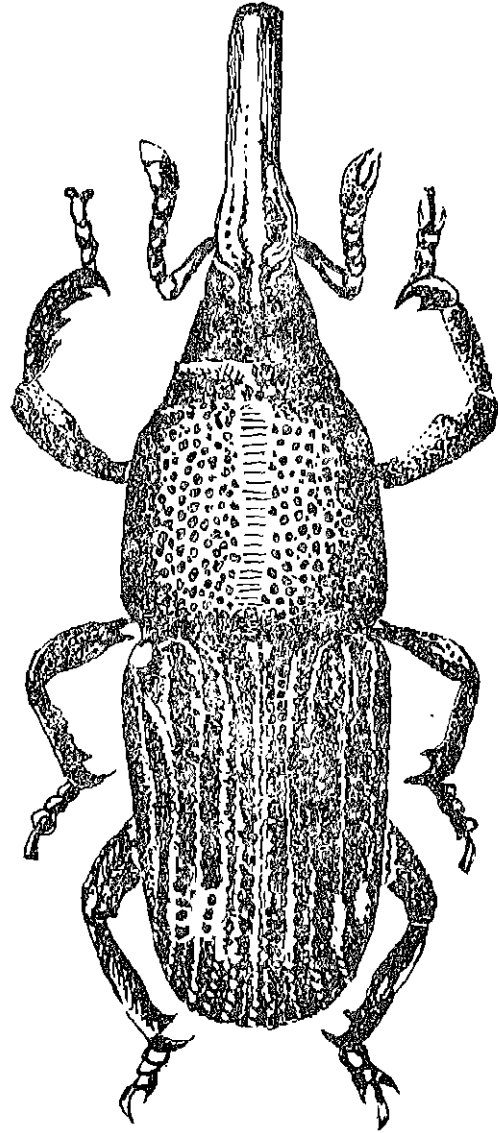
चित्र 29.6 : धान का प्रौढ़ घुन।

(13) ऐंगमॉइस धान्य शलभ (ऐंगमॉइस ग्रेन मॉथ) (सिटोट्रोगा सीरिएलेला)

यह 12 मिमी० लम्बा व चमकदार बफ रंग का शलभ है, जिसमें नोकीले, बारीक व चौड़ी धारीदार पंख
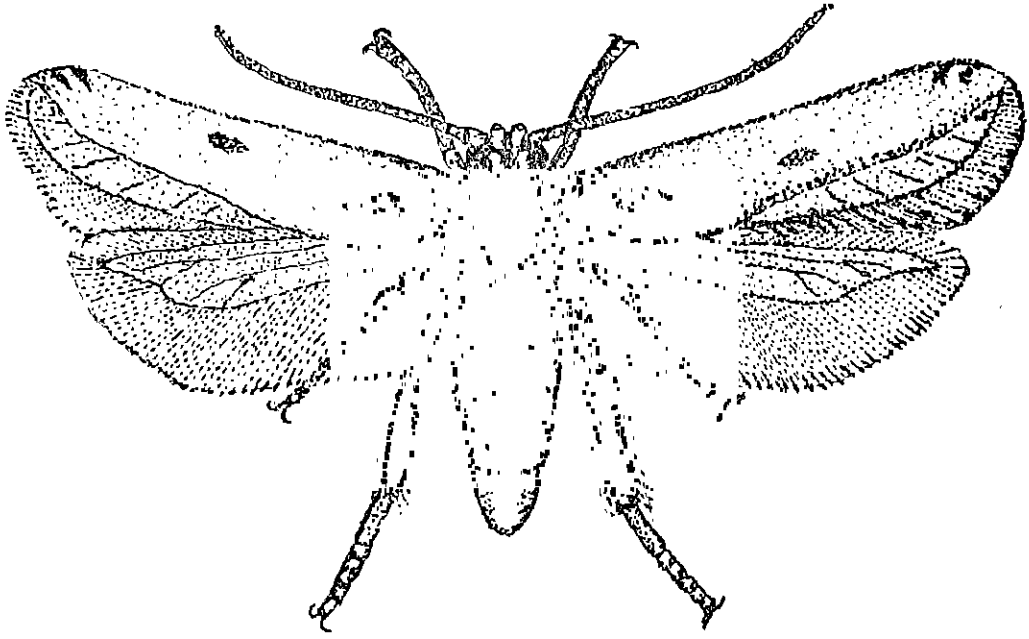
चित्र 29.7 : ऐंगमॉइस धान्य शलभ (ग्रेन मॉथ)।

होते हैं (चित्र 29.7)। इल्ली धान्यों और ज्वार-बाजरे के दाने में वेधन करके उन्हें खोखला बना देती है। दाने की दरारों में मादा कई सौ अंडे देती है। यह बगैर कुटे धान्यों का एक महत्वपूर्ण शलभ पीड़क (मॉथ पेस्ट) है।

(14) दाल भृंग (पल्स बीटल) (ब्रूकस स्पी०)

ब्रूकस वंश (जीनस) के कई भृंग (बीटल) ऐसे हैं जो चाकलेटी रंग के होते हैं (चित्र 29.8)। प्रौढ़ और शिशु या भृंगक (ग्रब) दाल की फलियों या दानों में वेधन करते हैं। इनमें से कुछ भृंग केवल भंडार घर में ही प्रजनन करते हैं और बाकी खेतों में प्रजनन करके खड़ी फसलों को काफी अधिक क्षति पहुँचाते हैं।

ऊपर बताए गए पीड़कों के अलावा कई और भी पीड़क हैं जो भंडार घर और गोदामों के धान्यों को प्रत्यक्ष रूप से खाते हैं, जैसे चींटी, तिलचट्टा (काक्रोच), चूहे आदि।

नियंत्रण : भंडारण वाले पीड़कों को सामान्यतया सुसंवातित गोदामों में नियंत्रित किया जाता है। छत और
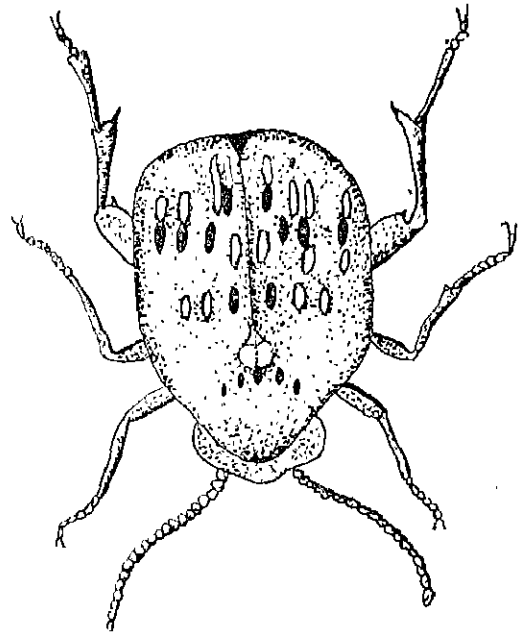
चित्र 29.8 : दाल-भृंग (ब्रूकस स्पी०)।

फर्श एक सार और चिकने होने चाहिए और उनके बीच में दरार व छेद नहीं होने चाहिए। दानों में दस प्रतिशत से अधिक नमी नहीं होनी चाहिए। एक गोदाम में केवल एक ही प्रकार का अन्न भरा रहना चाहिए। ऐसा प्रबन्ध रखना चाहिए कि बोरे दीवारों को न छुए। दीवाल और छत की सतहों पर 0.5 लिटर प्रति 100 वर्ग मीटर की दर से 0.5% लिन्डेन या मैलाथायोन को फुहारा जा सकता है।

अभ्यास

1. पीड़क (पेस्ट) से क्या समझते हो? जिन पीड़कों का अध्ययन किया हो उनका वर्णन करो।
2. धान के महत्वपूर्ण पीड़कों के नाम बतलाओ। उनके द्वारा की गई क्षति और उनके नियंत्रण उपायों का वर्णन करो।
3. खाली स्थानों को भरो :
   (क) बंगाल का अकाल धान के......रोग के कारण हुआ।
   (ख) केले का गुच्छित चूड रोग (बंची टॉप)...... के द्वारा होता है।
   (ग) खपड़ा भृंग (बीटल) एक......पीड़क है।
4. भंडारण के पीड़कों के नियंत्रण की क्या सामान्य विधियाँ हैं? कृन्तकों (रोडेन्ट) का नियंत्रण हम किस प्रकार करते हैं जो कि भंडार के धान्यों को खाते हैं?
5. भंडारण के निम्नलिखित पीड़कों की पहचान वाले लक्षणों का वर्णन करो :
   (i) धान का घुन।
   (ii) ऐंगमॉइस धान्य शलभ (ग्रेन मॉथ)।
   (iii) दाल भृंग (बीटल)।
6 निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखो :
   (i) धान का तना-वेधक (स्टेम बोरर)।
   (ii) धान का गंधी बग।
   (iii) कपास का चित्तीदार गोलक शलभ (स्पॉटेड बॉल वर्म)।
   (iv) नारियल-इल्ली (कोकोनट कैटरपिलर)।

अध्याय-30

मानव की सेवा में वन

मानव जब से इस ग्रह पर प्रकट हुआ है पौधे, विशेष कर पेड़, तभी से उसके साथी रहे हैं। अपने भोजन के निमित्त प्राणियों का शिकार करने के लिए वह घने जंगलों में रहता रहा है। जंगल के अंग्रेजी पर्याय 'फौरेस्ट' (लेटिन, फौरिस- आउट साइड यानी बाहर) का अर्थ है गाँवों के घेरे और सीमा के बाहर की भूमि, जो वृक्षों और क्षुपों के बन्द चंदोवे से ढकी रहती है। अंग्रेजी का 'फौरेस्ट' शब्द भारतीय शब्द 'जंगल' से इस बात में भिन्न है कि इसमें नियमित रूप से उगाए गए व व्यवस्थित पेड़ों का आभास होता है। दूसरे शब्दों में कहें तो कह सकते हैं कि फौरेस्ट या वन एक परितंत्र (इकोसिस्टम) है, जिसमें सजीव और अजीवित दोनों प्रकार के घटक होते है। भूमि के किसी भी क्षेत्र को, जिसमें विभिन्न युगों के वृक्षों की भिन्न-भिन्न जातियाँ निरन्तर संचित होती चली जाती है और जिसमें वर्तमान वातावरणी दशाओं में नियमित व्यवस्था करके उत्पादों की इष्टतम उपज प्राप्त की जाती है, वन की श्रेणी में रखा जा सकता है। ज्ञान-विज्ञान की वह शाखा, जिसमें अधिक से अधिक लाभ के लिए पेड़ों को वैज्ञानिक ढंग से लगाया, पाला-पोसा व देखा-भाला जाता है, वानिकी (फौरेस्ट्री) कहलाती है। यह वह विज्ञान है जिसमें प्रकृति का अध्ययन होता है और प्रकृति के अनुकूल कार्य किया जाता है न कि उसके साथ प्रतियोगिता।

सभ्यता के इतिहास पर एक दृष्टि डालने पर पता चलता है कि जंगल मानव के जीवन से घनिष्ठ रूप से जुड़े थे। जंगलों का संवर्धन और रक्षण ईसा से पूर्व चौथी शताब्दी के दौरान भी प्रचलित था। करीब 10,000 वर्ष पहले जंगलों में घूमते-घामते मानव ने पाया कि कुछ बीजों को भोजन के लिए उगाया जा सकता है। उसने इन बीजों को बोना और इनकी खेती करना आरम्भ कर दिया और इस तरह पेड़ों को काटते-गिराते कृषि के लिए अधिक से अधिक भूमि तैयार करने लगा। कुछ साल बाद जब भूमि कम उर्वर हो गई तो वह ऐसे ही अन्य वन्य क्षेत्रों की ओर अग्रसर हो गया और वहाँ भी उसने अपना यह आक्रमण दोहराया। कृषि के लिए पेड़ों को काटकर भूमि बढ़ाने की प्रकिया को तकनीकी भाषा में स्थानान्तरी कृषि (शिफ्टिंग ऐग्रीकलचर) कहते हैं, और यह प्रक्रिया कृषि से पूर्व की प्रक्रिया है। आर्य पशुचारणिक लोग थे इसलिए वे इन विधियों का प्रयोग करते थे लेकिन साथ ही उनमें आकर्षक दृश्यावली और परिवेश सम्बन्धी सौन्दर्य भावना भी विद्यमान थी। उस युग में मानव की आबादी बहुत कम थी और जंगल बहुतायत से पाये जाते थे। ज्यों-ज्यों मानव की जनसंख्या तेजी से बढ़ती गई त्यों-त्यों उसकी जरूरतें भी बढ़ती गई और यही कारण था कि उसने जंगलों का अधिक से अधिक सफाया करना शुरू कर दिया।

महाभारत काल में जंगल बहुत बड़े पैमाने पर नष्ट किए गए। इसीलिए हमारे पूर्वजों ने पेड़ों को काटना पाप कहा। इस तरह के कुछ उपायों को अपनाकर कुछ बुद्धिमान लोग पीपल, बरगद और बेल सरीखे कुछ वृक्षों को विलुप्त होने से बचा सके। सम्राट अशोक ने भी वनों का महत्व महसूस किया और महामार्गों पर लाभदायक वृक्षों को लगाने का आदेश दिया।

हाल के वर्षों में पिछले दो महायुद्धों के दौरान हमारे देश में जंगलों का नाश कुछ अधिक तेजी से हुआ, विशेषकर ब्रिटिश राज के अन्तर्गत, क्योंकि नौसेना के जहाजों और रेलवे के स्लीपरों के निर्माण के लिए लकड़ी को उपयोगी पाया गया। भारत में 1955 के वन नीति अधिनियम के बाद सरकार ने जंगलों को सुधारने के सुविचारित प्रयत्न किये, जो कारगर भी सिद्ध हुए लेकिन ये वन सम्पदा के नाश और रिक्तीकरण को नहीं बचा सके।

स्वतंत्रता के बाद, सन् 1950 में, हमारी सरकार ने 'वन महोत्सव' नाम का 'वृक्ष बचाओ और लगाओ' आन्दोलन छेड़ा। राष्ट्र के कल्याण में वनों की महत्वपूर्ण भूमिका के निमित्त सन् 1952 में राष्ट्रीय वन नीति का निर्धारण किया गया। इस नीति का मुख्य उद्देश्य था जंगलों की रक्षात्मक, उत्पादक और जैव सौन्दर्यपरक भूमिका। कार्य के आधार पर राष्ट्रीय नीति के अनुसार जंगलों का रक्षण वनों, राष्ट्रीय वनों और ग्राम वनों में वर्गीकरण किया गया। इस नीति का मुख्य उद्देश्य था—वृक्षीय वनों की स्थापना, दिनों-दिन बढ़ती आवश्यकता की पूर्ति के लिए पशुओं के चरने वाली भूमि, इमारती लकड़ी तथा जलाने वाली लकड़ी का आश्वासन। इसके अन्तर्गत यह भी चेतावनी दी गई कि वनों के नुकसान पर कृषि का विस्तार नहीं होना चाहिए क्योंकि ऐसा करने से भूमि तूफानों, अंधड़ों, हवा के गर्म झोंकों और जल अपरदन (इरोजन) के प्रति अपने प्राकृतिक रक्षा उपायों से वंचित हो जाती है।

हमारी वन सम्पदा

वन को एक उद्योग के रूप में लिया जाता है, जो राष्ट्र की अर्थव्यवस्था को मजबूत बनाने में महत्वपूर्ण रोल अदा करता है। हमारे नित्य प्रति के जीवन के अनेक उपयोगों के लिए वन कच्ची सामग्री प्रदान करते हैं और इस तरह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से हमारे उद्योगों को चलाते हैं। वन कहीं भी हो लेकिन वह भूमि की उर्वरता बनाए रखने, अपरदन रोकने और क्षेत्र विशेष की जलवायु के नियंत्रण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। यद्यपि यह निरन्तर नया किया जा सकने वाला प्राकृतिक साधन है लेकिन साथ ही यह समाप्त हो जाने वाला साधन भी है।

जलवायु, भू आकृति विज्ञान (फिज़ियोग्रैफी), भूमि, जल दशाओं तथा जीवीय समुदाय सरीखे कारकों की विविधता के कारण भारतीय वनों में बहुत अधिक किस्म के पेड़ होते हैं। विश्व के वनों के वर्गीकरण में भारतीय वनस्पति के प्रमुख भागों को मानसून व सूखे वनों, कँटीली झाड़ियों तथा सवाना में वर्गीकृत किया जाता है। पेड़ों की करीब 2500 जातियाँ हैं। हमारे वन देश के कुल भौगोलिक क्षेत्रफल के 17.2 प्रतिशत से अधिक भाग में फैले हुए हैं। लाभदायक जातियाँ पेड़ों की अन्य जातियों के साथ मिश्रित प्रकार से उगती हैं, सिवाय साल और चीड़ के। सारणी 30.1 में उपयोग में आने वाले वनों की कुल वार्षिक वृद्धि दिखलाई गई है जो अन्य देशों की तुलना में बहुत कम है। भारत में वनों के अन्तर्गत जो क्षेत्र है वह भी अन्य देशों की तुलना में कम है।

सारणी 30.1

भिन्न-भिन्न देशों में वन सम्बन्धी आधारभूत आँकड़े

	भारत	एशिया	ब्रिटेन	रूस	अमरीका
(क) कुल वन (लाख हेक्टेयर)	560	5200	15	11.31	3160
(ख) वन उपयोग में (लाख हेक्टेयर)	456	2007	1352	4535	2137
(ग) उपयोग में आने वाले वनों की वार्षिक वृद्धि (प्रति हेक्टेयर)	0.5	2.6	3.5	1.9	3.0

भारतीय वनों को मोटे तौर पर दो वर्गों में बाँटा जा सकता है—चौड़ी पत्ती वाले सदापर्णी या सदाहरित वन (देवदार वन) और सुई जैसी या सूच्याकार पत्ती वाले पतझड़ी वन (बाँज या ओक वन), जिनमें कुछ ऋतुओं में पेड़ बिना पत्ती के हो जाते हैं।

वन की सम्पदा के उपयोग का अर्थ है लोगों की घरेलू माँगों की पूर्ति के लिए या उद्योगों के निमित्त कच्ची सामग्री की पूर्ति के लिए कई उत्पादों व पदार्थों का प्रत्यक्ष उत्पादन। वनों से प्राप्त होने वाले महत्वपूर्ण व्यापारिक उत्पाद हैं—लकड़ी, कागज, प्लाईवुड, राल (रेजिन), गोंद, लाख आदि।

वन के उत्पादों को निम्नलिखित प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है :

(क) **मुख्य—लकड़ी।**

(ख) **गौण—प्राणी, सब्जियाँ और खनिज पदार्थ।**

इन पदार्थों या उत्पादों में से प्रत्येक की प्रकृति और उपयोग आदि के बारे में यहाँ पर संक्षेप में बतलाया जाएगा।

काष्ठ या लकड़ी (वुड या टिम्बर)

प्रकाश संश्लेषण (फोटोसिंथेसिस) की आधारभूत प्रक्रिया में पौधे हवा और पानी का उपयोग करते हुए प्रकाश और पर्ण हरित (क्लोरोफिल) की सहायता से मंड और शर्करा बनाते हैं। ये काष्ठ के विभिन्न घटकों में परिवर्तित हो जाते हैं, जैसे कि लिग्निन और सेलुलोस में।

काष्ठ या लकड़ी कुछ विशेष प्रकार की कोशिकाओं से बनती है जिन्हें तंतु-कोशिका (फाइबर सेल) कहते हैं। इन कोशिकाओं में सेलुलोस नामक सफेद पदार्थ होता है जो लिग्निन के आवरण (कोट) से भूरा दिखलाई देने लगता है। लकड़ी को भारी और मजबूत बनाने का काम केवल तंतु-कोशिकाओं का ही है। लकड़ी प्रदान करने वाले वन के पेड़ों को मोटे तौर पर दृढ़ काष्ठ या दृढ़ दारु (हार्डवुड) और मृदु काष्ठ या मृदु दारु (सौफ्ट-वुड) में वर्गीकृत किया जा सकता है। भारतीय वनों के अधिकांश वृक्ष जैसे कि साल, सागौन, शीशम, यूकेलिप्टस, सफेदा आदि दृढ़ काष्ठ वाले वर्ग में और सूच्याकार पत्तियों वाले वृक्ष जैसे कि शंकुवृक्ष (कोनीफर), देवदार, चीड़, मृदुकाष्ठ वाले वर्ग में आते हैं।

सामान्य रूप से लकड़ी द्वारा ही मानव की बहुत सी आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। इसके लाभकारी उपयोग के लिये इसकी संरचना और गुणों की जानकारी आवश्यक है। लकड़ी के उपयोग के अनुसार इसे औद्योगिक लकड़ी और ईंधन की लकड़ी के रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है। भारतीय वनों के वृक्षों की 2000 से अधिक जातियाँ हमें लकड़ी देती हैं, जिसका अनेक प्रयोजनों के लिए उपयोग होता है। किसी विशेष प्रयोजन के लिए लकड़ी की उपयुक्तता का निर्धारण परीक्षण के बाद ही हो सकता है। उदाहरण के लिए, हवाई जहाजों के नोदकों (प्रोपेलर) के लिए **लिग्नम वाइटी** के बदले **अकेसिया चन्द्रा** की लकड़ी कड़ी और स्वस्नेहक पायी गयी। पुल, रेल के स्लीपर, सीमा स्तम्भ, संचारण खम्भे, प्लाई-वुड, औजारों के हत्थे, खिलौने, खेलकूद का सामान आदि बनाने में लकड़ी का उपयोग होता है। विशिष्ट रूप से लकड़ी के उपयोगों और उसकी उपयुक्तता का वर्णन सामान्यतया वनों के उपयोग सबन्धी पुस्तकों में किया जाता है।

कुल लकड़ी के 85 प्रतिशत से अधिक अंश को तो ईंधन के रूप में इस्तेमाल कर लिया जाता है। कैलोरी-मान और गर्मी प्रदान करने के दृष्टिकोण से लकड़ी को दो समूहों यानी अच्छे ईंधन और बुरे ईंधन में बाँटा जाता है।

कागज

लकड़ी की रेशेदार व तंतुमय प्रकृति के कारण लुगदी, कागज और रेयन बनाने में इसका इस्तेमाल किया जाता है। करीब 4000 वर्ष पहले मिस्रवासियों ने नरकुल (रीड) से लिखने का कागज़ बनाया था और इसका नाम रखा था 'रीडपेपाइरस' जिससे कि कागज़ का अंग्रेजी पर्यायवाची 'पेपर' व्युत्पन्न हुआ है। सूच्याकार या सुई जैसी पत्तियों वाले फर, स्प्रूस आदि शंकुवृक्ष इसके लिए सबसे अधिक उपयुक्त कच्ची सामग्री प्रदान करते हैं क्योंकि इनमें लम्बे काष्ठ-रेशे होते हैं। कागज के लिए कच्ची सामग्री के रूप में बाँस का भी बहुतायत से

उपयोग किया जाता है। पिछली शताब्दी तक कागज बनाने में लकड़ी का ही प्रयोग किया जाता था। रसायनों में जब लकड़ी या बाँस की चिप्पियों को पकाया जाता है तो रेशों का गीला पुंज (लुगदी) प्राप्त हो जाता है, जिसे ताडित्र (बीटर) में फेर कर और फिर छानकर व सुखाकर इस्तेमाल में लाया जाता है।

किसी राष्ट्र की प्रगति प्रति व्यक्ति सभी प्रकार के कागज के प्रयोग के सूचकांक से आंकी जा सकती है। जैसा कि सारणी 30.2 में दिखलाया गया है भारत में कागज की प्रति व्यक्ति खपत सबसे कम है।

सारणी 30.2

विभिन्न देशों में कागज की खपत

देश	प्रति व्यक्ति (किग्रा० में कागज की खपत)
भारत	1.4
अमरीका	205
ब्रिटेन	106
रूस	16
जापान	57
विश्व	26.7

सन् 1980 में कागज की प्रति व्यक्ति संभावित आवश्यकता 6 किग्रा० आँकी जाती है। शंकुवृक्षों और बाँस-सरीखी लम्बे रेशों वाली जातियों की कमी के कारण ही यूकेलिप्टस सरीखे छोटे रेशे वाले पेड़ों का उत्पादन बढ़ाने की जरूरत महसूस हुई। ऊपर वर्णित पहली कोटि के वृक्षों की तुलना में (प्रति वर्ष 2.5 टन प्रति हेक्टेयर) बाद वाली दूसरी कोटि के वृक्षों यानी यूकेलिप्टस की उपज अधिक होती है (प्रति वर्ष 10 टन प्रति हेक्टेयर)।

प्लाईवुड

यह लकड़ी की एक पतली परत या चादर है जो लकड़ी के लम्बे लट्ठे या बोटे को तराशने या छीलने से प्राप्त की जाती है। हमारे देश में प्लाईवुड की खपत बहुत कम है (प्रति 1000 व्यक्ति 0.2 घन मीटर), जबकि एशिया में यह 1.5, रूस में 5.9, अमरीका में 48.0 और विश्व में 6.7 है। सागौन, रोजवुड और अखरोट से प्लाईवुड के लिए कच्ची सामग्री प्राप्त होती है। हमारा देश प्लाईवुड का आयात करता है लेकिन अब इसके उत्पादन के लिए वह स्रोत साधनों की वृद्धि करता जा रहा है। अन्य प्रकार की सस्ती लकड़ी ढूंढ़ कर और छीजन में कमी करके प्लाईवुड के मूल्य में कमी की जा सकती है।

राल (रेज़िन)

ये पेड़ों की कुछ जातियों से निकलने वाले निस्राव (एक्सूडेशन) या रिसे हुए पदार्थ हैं। गोंद के विपरीत ये एल्कोहॅल में घुल जाते हैं। अपने देश में राल का महत्वपूर्ण स्रोत चीड़ का पेड़ है। भूमि से कुछ सेंमी० ऊपर पेड़ के तने पर एक खाँच बना दी जाती है और फिर इस खाँच से होते हुए राल को टपकाकर प्याले में भर लिया जाता है। इसके आसवन से 25% तारपीन (टर्पेन्टाइन) और 5% राल प्राप्त होता है। साबुन और पेन्ट बनाने में राल का प्रयोग किया जाता है।

गोंद (गम)

विकृत हो जाने के बाद पेड़ों की कोशिका-भित्तियाँ गोंद सरीखे पदार्थ देती हैं। ये रिस कर तभी निकलते हैं जब पेड़ों को क्षति पहुँचती है। मिष्ठान्नों और दवाइयों में गोंद का इस्तेमाल किया जाता है। गोंद स्रावित करने वाले सामान्य पेड़ हैं — बबूल, सलाई और धावड़ा। 'कुलू ट्री' का गोंद आइसक्रीम को गाढ़ा करने के काम आता है। पेड़ों का दोहन करके उनको नष्ट नहीं कर देना चाहिए, बल्कि यह दोहन ऐसा होना चाहिए कि गोंद की अधिक से अधिक प्राप्ति हो और पेड़ को भी कम से कम क्षति पहुँचे।

औषधीय पौधे

कई झाड़ियों और वृक्षों से ऐसे कच्चे पदार्थ प्राप्त होते हैं जिनका दवाओं के निर्माण में उपयोग होता है। औषधीय पदार्थ प्रदान करने वाले कुछ सामान्य वृक्षों का वर्णन आगे किया जाता है।

(1) एम्बिलका आफिसिनेलिस (आँवला)

यह पतझड़ी पेड़ है जो जंगलों में पाया जाता है और अब उगाया भी जाता है। इसके फलों से तैयार किया गया मृदु विरेचक (लैक्सेटिव) 'त्रिफला' विवर्धित यकृत (बढ़ा हुआ कलेजा) और आँखों के दर्द में इस्तेमाल किया जाता है। आँवले के फलों से तैयार किया गया किण्वित (फर्मन्टेड) रस का उपयोग अपाचन, अरक्तता (ऐनीमिया) और पीलिया में किया जाता है। फलों में विटामिन सी प्रचुरता से पाया जाता है।

(2) मधुका इन्डिका (महुवा)

यह एक लम्बा पतझड़ी वृक्ष है जो हिमालय-क्षेत्र में उगता है। कुछ स्थानों पर तो यह जंगल की वनस्पति का एक मुख्य घटक होता है। वृक्ष की छाल का काढ़ा खुजली और मसूढ़ों से खून निकलने में प्रयुक्त होता है। किसी अंग के जलने पर इसकी पत्तियों को घी के साथ मिलाकर लगाया जाता है।। श्वसन सम्बन्धी विकारों में इसके फूलों का प्रयोग किया जाता है।

(3) ब्यूटिया मोनोस्पर्मा (पलाश, ढाक)

यह एक मझोले कद का पेड़ है, जो लाख के कीट का परपोषी वृक्ष है। यह सारे भारत में सूखे पतझड़ी वनों में उगता है। पेड़ से निकलने वाले गोंद में टैनिन होता है जिसे दस्त (डायरिया) में इस्तेमाल किया जाता है। इसके बीजों से गोलकृमियों (राउन्डवर्म) और फीता-कृमियों (टेपवर्म) के नियंत्रण में सहायता मिलती है।

(4) सिनकोना

इस पेड़ की छाल से कुनैन प्राप्त होती है जिसे मलेरिया और जीवाणविक (बैक्टीरियल) संक्रमण में प्रयुक्त किया जाता है। आँख के लोशनों में भी इसका इस्तेमाल होता है। लेकिन इसकी अधिक मात्रा से बहरापन, अंधापन और मतली हो जाती है।

(5) एट्रोपा बेलाडोना (बेलाडोना, डेड्ली नाइटशेड)

इसकी जड़ों और पत्तियों को कम तापमान पर सुखाकर फिर उनका चूरा कर लिया जाता है। दमा में बेलाडोना की पत्तियों को जलाकर और धुएं को साँस के साथ अन्दर खींचने से बहुत फायदा पहुँचता है। इससे निकले ऐट्रोपीन नामक ऐल्केलाइड को आँख के स्रवण रिफारण (डाइलेशन) और आँख के दर्द में इस्तेमाल किया जाता है।

(6) पाइनस रौक्सबर्गाई (चीड़)

पहाड़ों पर पाया जाने वाला यह एक लम्बा वृक्ष है जिसमें सुई-जैसी पत्तियाँ होती है। इस वृक्ष से प्राप्त होने वाला तेल उद्दीपक (स्टिमुलेन्ट) तथा कफोत्सारक (एक्सपेक्टोरेन्ट) होता है और चिकारी श्वसनीशोथ (क्रोनिक ब्रोन्काइटिस) में लाभकारी होता है। यह कब्ज दूर करने में भी सहायक होता है।

(7) टेरोकार्पस मार्सूपियम (काइनो ट्री)

यह एक लम्बा वृक्ष है जो मिश्र पतझड़ी वनों में पाया जाता है। इससे 'काइनो गम' नामक गोंद प्राप्त होता है, जो संकोचक होता है और दस्त में लाभकारी रहता है। कभी-कभी मधुमेह के रोगियों को इसकी लकड़ी में रखा हुआ पानी दिया जाता है।

मानव की तेजी से बढ़ती हुई आबादी के कारण वनों की माँग और पूर्ति की खाई बढ़ती ही जा रही है। कटान द्वारा वनों का सफाया करने तथा वनों की संपदा का नाश और विलोप करने के कारण भूमि का अपरदन (इरोजन), भूमि की उर्वरता में कमी और जलवायु में परिवर्तन हो जाता है। अपरदन का कारण यह है कि भूमि नंगी होकर हवा और पानी की प्रत्यक्ष प्रतिक्रिया के लिए खुली पड़ जाती है। वानिकी (फौरेस्ट्री) या वनों के वैज्ञानिक अध्ययन के अनुप्रयोग से हम लोग इस समस्या से तभी उबर सकते हैं जबकि व्यक्ति और सरकार दोनों वनों की अर्थव्यवस्था को मजबूत करने वाली भूमिका को समझें। वनों से हमें जो फायदे हैं उसी से स्पष्ट हो जाता है कि उचित प्रकार से इनकी रक्षा और संरक्षण होना चाहिए। अपर्याप्त वन क्षेत्रों, पशुधन, कम महत्व की जातियों और धीरे-धीरे वृद्धि करने वाली जातियों के पहलू से ही इस बात की आवश्यकता पड़ी कि छीजन कम से कम की जाय और इस सन्दर्भ में वैज्ञानिक तकनीकों को अपनाया जाय। भूमि में वन रोपन, वृक्षों की तेजी से बढ़ने वाली महत्वपूर्ण जातियों को लगाना, आग से पेड़ों

का बचाव, जानवरों की नियंत्रित चराई और वनस्पति आवरण के प्रति कम से कम छेड़छाड़ आदि कुछ ऐसी विधियाँ हैं जिन्हें वनों को बनाए रखने के लिए सुझाया जाता है।

अभ्यास

1. वानिकी (फौरेस्ट्री) शब्द की परिभाषा बताओ।
2. 'किसी राष्ट्र की अर्थव्यवस्था में वन महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं'—इस कथन की पुष्टि करो।
3. वनों के सुधार के लिए सरकार ने क्या उपाय अपनाए हैं ?
4. दृढ़ काष्ठ (हार्ड वुड) और मृदु काष्ठ (सौफ्ट वुड) से क्या समझते हो ? प्रत्येक को उदाहरण सहित समझाओ।
5. लकड़ी के उपयोगों का वर्णन करो।
6. 'प्रति व्यक्ति कागज़ की खपत का सूचकांक ही राष्ट्र की प्रगति का सूचक होता है'—इस कथन की समीक्षा करो।
7. निम्नलिखित पदार्थों को उत्पन्न करने वाले दो पेड़ों का नाम बतलाओ।
   (क) गोंद।
   (ख) राल (रेज़िन)।
   (ग) औषधि।
8. बतलाओ कि वनों का संरक्षण (कंजर्वेशन) किस प्रकार किया जा सकता है ?

अध्याय-31

मानव की सेवा में जंगल के कीट

मानवता के कल्याण मे वन के पारितंत्र (पारिस्थितिक तंत्र—ईकोसिस्टम) का प्राणी घटक भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। वन का यह प्राणी घटक या प्राणी समुदाय वन के पेड़ों पर जीवन बिताता है। वन के प्राणीजात (फौना) से कई किस्म के औद्योगिक और व्यापारिक उत्पाद प्राप्त होते है । कुछ छोटे-छोटे कीट वन और राष्ट्र की अर्थव्यवस्था में बहुत अधिक योग देते हैं क्योंकि वे अनेक उद्योगों के लिए कच्ची सामग्री प्रदान करते हैं। इस प्रसंग में मक्षिकाओं या मधुमक्खियों, शलभों (मॉथ) तथा लाक्षा कीट या लाख कीट का नाम लिया जा सकता है। बहुत प्राचीन समय से ही ये कीट प्राकृतिक रूप से वनों में पाये जाते रहे हैं। जैसे-जैसे हमारी वैज्ञानिक जानकारी बढ़ती गयी वैसे-वैसे इनका आर्थिक महत्व भी अधिक महसूस किया जाता रहा। उपलब्ध तकनीकों और साधनों से लोग इनका पालन-पोषण भी करने लगे। अब हम इस बात का अध्ययन करेंगे कि ये क्षुद्र प्राणी किस तरह मानव के काम आते हैं और कैसे उसके रहन-सहन को उत्तम बनाते हैं।

मधुमक्षिपालन (एपिकल्चर)

मधुमक्षिपालन शब्द के अर्थ का पता साफ-साफ लग जाता है कि मक्षिकाओं की देखभाल और प्रबन्ध। चूंकि ये मक्षिकायें (बी) शहद और मोम उत्पन्न करती हैं इसीलिए इन्हें शहद की मक्खी या मधुमक्खी कहते हैं। वेदों और रामायण के अध्ययन से पता चलता है कि मधुमक्खी पालन उस समय भी प्रचलित था। लेकिन उस समय इन्हें पालने वालों के तरीके बड़े अपरिष्कृत और अलाभकारी थे। उनसे बहुत शहद बेकार चला जाता था और कीटों की भी मृत्यु हो जाती थी। उन्नीसवीं शताब्दी में ही उन्नत तकनीकों से इस क्षेत्र में कुछ प्रगति की जा सकी जबकि हिलाये-डुलाए जा सकने वाले छत्तों के चौखटे और शहद निकालने के उन्नत तरीकों की खोज की गई।

मानव के लिए लाभकारी कीटों में मधुमक्खियाँ भी आती हैं। हमारे देश में आमतौर पर पायी जाने वाली प्रसिद्ध जातियाँ ये हैं—**एपिस डौर्सेटा, ए० फ्लोरिया ए० इण्डिका**। ये कीट मकरन्द (**नैक्टर**) उत्पन्न करने वाले फूलों के परागण में सहायता पहुँचाते हैं। मधुमक्खी के डंक से कभी-कभी पेशीय (मस्कुलर), तंत्रिकीय (नरवस), नितंबी (शिएटिक) दर्द तथा गठिया में काफी फायदा पाया गया है।

वह स्थान जहाँ मधुमक्खियों का संवर्धन किया जाता है और व्यापारिक उत्पाद प्राप्त करने के लिए उनका पालन-पोषण किया जाता है **मधुमक्षिशाला** (एपियरी) कहलाता है। मधुमक्खी पालने वालों के पास यदि निम्नलिखित बातें हों तो वे अपने व्यवसाय को उन्नत करके उसे बहुत लाभकारी बना सकते हैं: (1) यदि

उनके पास काफी संख्या में इनकी कोलोनियाँ हों, (2) यदि उनके पास बड़ी व स्वस्थ कोलनियाँ और अच्छे विभेद (स्ट्रेन) हों, (3) यदि उनके पास शुद्ध शहद निकालने तथा उसको बेचने के उपयुक्त साधन हों। इनके अतिरिक्त उन्हें मधुमक्खियों की आदतों व व्यवहार, मधुमक्खियों की प्रजातियों के सुधार, शहद उत्पन्न करने वाले पौधों तथा स्थान विशेष की शहद प्राप्ति से सम्बद्ध जानकारी भी होनी चाहिए। हमारे देश में जलवायु, पुष्पन का मौसम तथा वनस्पतियों की प्रकृति आदि **मधुमक्खी** पालन के अनेक सीमाकारी कारक हैं।

मधु या शहद सुगंध वाला, गाढ़ा और मीठा पदार्थ है, जो पौधों के मकरन्द से प्राप्त होता है। इसमें दो मुख्य शर्कराएँ—**डैक्स्ट्रोज** व **लीवुलोस**, नमी, वर्णक (पिगमेंट), एंजाइम, पराग-कण आदि पदार्थ होते हैं।

इसमें जो शर्करा होती है वह आसानी से स्वांगीकृत हो जाती है यानी पचा ली जाती है और रक्त में सोख ली जाती है, जो एकदम ऊर्जा देती है। शहद रक्त के हीमोग्लोबिन का निर्माण करने में सहायता देता है। डबल रोटी, बिस्कुट आदि बनाने में भी इसका उपयोग होता है। आयुर्वेदिक और यूनानी प्रणाली की औषधियों के सक्रिय पदार्थ के वाहक के रूप में भी इसका प्रयोग होता है। इसे मृदु विरेचक (लक्सेटिव), रक्त का शोधन करने वाला तथा खाँसी-जुकाम का विरोधी पदार्थ भी कहा जाता है। एल्कोहलीय पेयों, त्वचा व सौन्दर्य सम्बन्धी लोशनों और फलों के परिरक्षण-पदार्थ के रूप में भी इसका उपयोग होता है।

मधुमक्खियाँ वैक्स बनाती हैं जिसे सामान्य भाषा में, मोम, सिंधी, लेलिन आदि कहते हैं। यह पदार्थ मक्षिकाओं द्वारा गरमी के महीनों में बनाया जाता है। मोम के रंग पर धूप के प्रकाश का बहुत असर पड़ता है। हमारे देश में मधुमक्खियों के मोम का मुख्य स्रोत **एपिस डौर्सेटा** है क्योंकि इसका छत्ता बड़ा होता है। मोम के कई उपयोग हैं। मन्दिरों और गिरजाघरों में इसका चढ़ावे के रूप में उपयोग होता है। विभिन्न प्रकार के सोने, चांदी व पीतल के साँचों की मोम द्वारा परिष्कृति की जाती है। मरहम, प्लास्टर और छपाई उद्योग में भी इसका प्रयोग किया जाता है।

रेशम कीट पालन (सेरिकल्चर)

रेशम उत्पादन के लिए कीटों का प्रजनन और प्रबन्ध रेशम कीट पालन या सेरिकल्चर कहलाता है। **बौम्बिक्स मोराइ**, जिसे *सामान्य भाषा* में रेशम कीट (सिल्क वर्म) कहते हैं, वह कार्य करता है जो कोई भी अन्य कीट नहीं कर सकते।

रेशम-कीट सबसे पहले चीन में उनके परपोषी वृक्षों यानी शहतूत के पेड़ों (**मोरस एल्बा**) पर देखे गए। चूंकि इन कीटों को चीन से बाहर ले जाना वर्जित था, ये कीट चीन से भारत में अंडों के रूप में एक राजकुमारी द्वारा लाए गए थे। अपने आरम्भ से ही रेशम कीटों ने अपनी खाने की आदतें नहीं बदली हैं। शहतूत का पेड़ तो बिना रेशम-कीटों के रह सकता है लेकिन रेशम कीट शहतूत के पेड़ के बिना अच्छा रेशम उत्पन्न नहीं कर सकते। इसे 'वर्म' इसलिए कहते हैं क्योंकि इसके जीवन-इतिहास में एक सुस्पष्ट वर्म जैसी यानी कृमि-जैसी अवस्था आती है। परपोषी-खाद्य के आधार पर इसे *शहतूत खाने वाले* (पालतू) और *शहतूत न खाने वाले* (वन्य) रेशम कीटों में वर्गीकृत किया जा सकता है। जे० ओरिंगटन ने सन् 1689 में ज्ञात किया कि भारत की जलवायु एक साल में इसकी कई पीढ़ियों (छह गुना) को उत्पन्न करने के अनुकूल है जबकि इंग्लैन्ड में यह साल में केवल एक बार ही प्रजनन कर पाता है। एक पीढ़ी में रेशम की जितनी प्राप्ति होती है उसे 'बैन्ड' कहते हैं।

लाख संवर्धन (लैक कल्चर)

लाख रालदार पदार्थ है जो एक कीट के रिसाव से प्राप्त होता है और जो प्राणी स्रोत वाला पदार्थ है। 'लाख' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत के 'लाक्षा' शब्द से हुई है—जिसका अर्थ है सैकड़ों हजार, और यह नाम संभवतया लाख की एक पपड़ी से असंख्य डिम्भकों (लार्वा) के निकलने के आधार पर ही पड़ा है। लाख-कीट **टैकार्डिया लैका** भारत के लिए वस्तुतः विशेष क्षेत्री (एन्डीमिक) है। जिन परपोषी पौधों पर यह कीट पनपता है वे ये हैं—पलाश (**ब्युटिया फ्रौन्डोसा**), बेर (**जिजिफस जुजुबा**) और कुसुम (**श्लेईहेरा ओलिओसा**)।

लाख की गुणता या किस्म उस पौधे पर निर्भर करती है जिस पर कि कीट पोषण प्राप्त करता है।

लाख के संवर्धन का आरम्भ जनन-लाक्षा (ब्रूड लैक) से होता है, जो कि परपोषी पौधे की टहनी पर कीटों वाली पपड़ी होती है। कीट फिर परपोषी पेड़ों पर फैल जाते हैं, प्रजनन करते हैं और रालदार परत का स्रवण करते हैं जिससे लाख प्राप्त होता है। साल में इसकी चार फसलें उत्पन्न की जा सकती हैं। कच्चे उत्पाद को टहनियों पर से खुरच लिया जाता है और फिर विलेयक गन्दे पदार्थों को साफ करने के लिए इसे पानी से धो लिया जाता है, और इस तरह कण लाक्षा या सीड लैक प्राप्त कर ली जाती है। चपड़ा (शेलैक) प्राप्त करने के लिए कण-लाक्षा को तप्त प्रगलन-प्रक्रम (हॉट स्मेल्टिंग प्रौसेस) द्वारा संसाधित किया जाता है। वार्निश की पौलिश, ग्रामोफोन के रेकार्ड और छपाई की स्याही बनाने में इसका प्रयोग किया जाता है। फेल्ट हैट को कड़ा करने और चमड़े की परिष्कृति करने में भी इसका प्रयोग किया जा सकता है।

इससे लाल रंजक (डाइ) और रालदार लाख प्राप्त होती है। रालदार लाख को सामान्य राल (रेज़िन) और मोम के साथ अपमिश्रित करने या मिलाने में प्रयुक्त किया जाता है।

अभ्यास

1. रेशम कीट पालन (सेरीकल्चर) शब्द की परिभाषा बताओ।
2. मधुमक्खी के मोम और शहद के विविध उपयोगों का संक्षेप में वर्णन करो।
3. मधुमक्षिपालन (एपिकल्चर) मानव के उत्तम रहनसहन में किस प्रकार सहायक हो सकता है ?
4. लाख क्या है ? इससे सम्बद्ध कीट और परपोषी पौधों के वैज्ञानिक नाम बताओ।
5. मधुमक्खी की तीन जातियों के नाम बताओ।
6. लाख मानव के लिए किस प्रकार लाभदायक है ?

अध्याय-32

पशुधन

पशु हमें दूध और दूधउत्पाद प्रदान करते हैं जिनसे भारतवासियों को अपने भोजन में प्राणि प्रोटीन प्राप्त होते है। भारत की कृषि अर्थव्यवस्था में पशु बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। किसी कृषक के लिए भूमि के बाद की कीमती चीजें पशु ही हैं। अपने देश की कृषि सम्बन्धी विभिन्न संक्रियाओं में गतिदायी शक्ति (मोटिव पावर) के रूप में बैलों का विस्तृत रूप से उपयोग होता है। पशुओं के गोवर की खाद भूमि की उर्वरता को बनाए रखती है, इस बात को सभी भली भाँति जानते हैं। लेकिन ईंधन के रूप में प्रायः इसके प्रयोग से इसका गलत इस्तेमाल होता है। पशुओं की खाल और चमड़े से कई प्रकार की वस्तुएँ बनाई जाती है। भारत से खाल और चमड़े का बहुत अधिक निर्यात होता है।

हमारी पशु संपदा

गाय, भैंसें हमारे पशुधन (लाइवस्टाक) के महत्वपूर्ण अंग हैं। 1965-66 के दौरान भारत के पशुधन की आबादी 34·3 करोड़ थी जिनमें 17·6 करोड़ भेड़ें, 6·4 करोड़ बकरियाँ और बाकी अन्य पशुधन था। भारत में एक गाय से हमें वर्ष में औसतन 173 लिटर दूध प्राप्त होता है और भैंस से करीब 491 लिटर। यह आँका गया है कि 100 में से करीब 70 गायें व भैंसें दूध देती ही नहीं हैं। डेयरी वाले पशुओं में से अधिकांश पशु प्रति दिन एक लिटर से काम दूध देते हैं और 20 प्रतिशत भैंसें प्रति दिन करीब 2 लिटर दूध देती हैं। गाय की तुलना में भैंस से दूध की प्राप्ति तथा उसका वसा (चर्बी) वाला अंश बहुत अधिक होता है। इसके अलावा गाय की अपेक्षा भैंस की अनुकूलन-शीलता, रोग के प्रति रोधक्षमता और आयु अधिक होती है। भैंसे को गरीब आदमी का ट्रैक्टर कहा जाता है। सारणी 32·1 में भारत तथा अन्य देशों में वर्ष में गाय से औसत रूप से प्राप्त होने वाले दूध की मात्रा दर्शाई गई है।

सारणी 32·1

एक वर्ष में एक गाय से प्राप्त होने वाले दूध की औसत मात्रा

नीदरलैंड	4220 लिटर
अमरीका	4250 ,,
डेनमार्क	3710 ,,
ब्रिटेन	2990 ,,
पाकिस्तान	420 ,,
भारत	220 ,,

पशुओं की नस्लें

भारत में गायों और भैंसों की कई महत्वपूर्ण नस्लें हैं (सारणी 32·2, 32·3)। इनके शरीर के गठन, रंग,

सींगों, ललाट तथा भौगोलिक वितरण के आधार पर इनकी पहचान की जा सकती है। इनकी कुछ नस्लों से उत्तम बैल प्राप्त होते हैं और कुछ नस्लें दुग्ध उत्पादन के लिए उत्तम होती हैं।

सारणी 32.2
भारत में गाय-बैलों की महत्वपूर्ण नस्लें

अमरिथमहल	देवनी
गिर	हरियाणा
कांगायम	कंकरेज
मालवी	नागोरी
अंगोली	रेड सिंधी
साहिवाल	थारपार्कर

सारणी 32·3
भारत में भैंसों की महत्वपूर्ण नस्लें

मुर्रा	नागपुरी
जाफराबादी	मेहसाना
नीली-रावी	सूरती

पशुओं का संभरण

पुरानी कहावत है कि सबसे अच्छा दूध संतुष्ट गायों से प्राप्त होता है। हमारे देश में भोजन और चारे की कमी के कारण ही दूध का कम उत्पादन होता है। संतुलित चारे या भोजन का मतलब है उसमें कार्बोहाइड्रेटों, वसाओं, प्रोटीनों, खनिजों, विटामिनों तथा जल सरीखे पोषक पदार्थों का उचित मात्रा में होना। भोजन या चारे को दो सामान्य वर्गों में बाँटा जा सकता है—रूक्ष या मोटा चारा (रफेज़) और सांद्र पदार्थ। मोटे चारे में रेशा बहुत अधिक मात्रा में होता है और इसके अन्तर्गत सूखी घास, चारा (फौडर) और साइलेज हैं। सांद्र मिश्रण (कॉनसेन्ट्रेट मिक्स्चर) दानों तथा धान्यों व चने की भूसी, बिनौले की खली सरीखे बीज-उत्पादों से बनता है। सामान्य भोजन या चारे के संपूरक खाद्य के रूप में पोषी खनिज पदार्थ भी दिए जाते हैं।

घासें पशुओं के सामान्य और सबसे अधिक पोषी खाद्य पदार्थ हैं। सूडान ग्रास, रोडीज़ ग्रास, नेपियर ग्रास, गिनी ग्रास और ऐलीफेन्ट ग्रास आदि कुछ चारे की घासें हैं जो अधिक पोषक तत्वों वाली होती हैं। अगेथी, बरसीम, रिजका (लूसर्न), लोबिया तथा अन्य प्रकार का फलीदार (लेगुमिनस) चारा बहुत अधिक पोषी होता है और इसे पशु बड़े स्वाद से खाते हैं। बाढ़ और अकाल या चारे की कमी के समय पशुओं की हालत बड़ी दयनीय हो जाती है। इस प्रकार की कमी हो जाने पर ऐसे क्षेत्रों में इनकी आपूर्ति के लिए कुछ चारा-बैंक स्थापित किए गए हैं। शुष्क महीनों के लिए सूखी घास या साइलेज (हरे चारे का गूदेदार रूप) के रूप में हरे चारे को सुरक्षित रखा जाता है।

डेयरी उत्पाद

हाल के आँकड़ों के अनुसार भारत में दूध का उत्पादन 2·5 करोड़ मीट्रिक टन है, जिसमें भैंस का दूध 1·6 करोड़ मीट्रिक टन, गाय का दूध 84 लाख मीट्रिक टन और बकरी का दूध 6·8 लाख मीट्रिक टन है। इससे पता चलता है कि गाय की अपेक्षा भैंस अधिक दूध देती है। पशुओं से कई किस्म के डेयरी-उत्पाद प्राप्त होते है। हमारे देश में उत्पन्न दूध के करीब 39% की खपत दूध के रूप में और बाक़ी की खपत निम्नलिखित उत्पादों के रूप में होती है :

1. **दूध :** पूर्ण दूध—इसमें सभी प्राकृतिक वसाएँ होती हैं। सपरेटा दूध (स्किम्ड मिल्क)—क्रीम निकालने के बाद बचा दूध।
2. **दुग्ध उत्पाद :** क्रीम, पनीर (चीज़), दही, मक्खन, घी, खोया, आइस क्रीम, केसीन।
3. **सांद्र दुग्ध उत्पाद :** मधुरित या मीठा किया हुआ संघनित दुग्ध (स्वीटेन्ड कन्डेन्स्ड मिल्क), दुग्ध चूर्ण या मिल्क पाउडर (पूरी क्रीम वाला तथा सपरेटा), शिशु दुग्ध आहार, माल्ट मिश्रित दुग्ध आहार।
4. **अन्य उत्पाद :** गोमांस (बीफ), भैंस का मांस, खाल, चमड़ा, हड्डियाँ, बाल।

पशुओं का गोबर उत्तम फार्म यार्ड खाद है। गोबर-गैस ऊर्जा का बहुत अच्छा स्रोत है जिसका हाल में कई

तरह से उपयोग हो रहा है। जैवगैस या बायो गैस उत्पन्न करने के बाद भी अवशिष्ट में उर्वरक के गुण बराबर बने रहते हैं।

भेड़ और बकरी

भेड़ पालन और ऊन उद्योग भेड़ पालने वाले लाखों किसानों और शिल्पियों की आजीविका का महत्वपूर्ण साधन है। भेड़ से मांस, ऊन और खाल तथा बकरियों से मांस, दूध, बाल तथा खाल प्राप्त होती है। भारत में भेड़ों और बकरियों की कुछ महत्वपूर्ण नस्लें निम्नलिखित हैं (सारणी 32.4 और 32.5)। ये शरीर की आकृति, सींगों के आकार और नाक की आकृति की दृष्टि से एक दूसरे से भिन्न हैं।

सारणी 32.4

भारत में भेड़ों की महत्वपूर्ण नस्लें

गुरेज	लोही
बीकानेरी	मन्डया
भकड़वाल	डेक्कनी
नेलोर	बान्डुर

सारणी 32.5

भारत में बकरियों की महत्वपूर्ण नस्लें

जमुनापारी	बारबरी
सूरती	बंगाल
बीतल	मारवाड़ी
पशमीना	मलाबार

भेड़ और बकरियों का संभरण

भेड़ हरी मुलायम घास या खर पतवार अथवा अन्य शाकों को चरती है। बकरियाँ कई किस्म के पेड़ों से पोषण प्राप्त करती हैं। वे पौधों की फुनगियों को चर जाती हैं। बकरियों की उचित देखभाल न होने से वनस्पतियों का नाश हो जाता है। भेड़ों को अच्छी अवस्था में बनाए रखने के लिए उन्हें खली और खनिज मिश्रण भी खिलाए जाते हैं।

फार्म के पशुओं के रोग

पशु प्लेग (रिंडर पेस्ट), खुरपका (फूट ऐन्ड माउथ डिजीज), ऐंथ्रैक्स, ब्लैक क्वार्टर, रक्तस्रावी पूतिजीवरक्तता (हैमोरेजिक सेप्टीसीमिया) आदि कुछ महत्वपूर्ण रोग हैं जो फार्म पशुओं को होते हैं। उचित निरोधी व स्वच्छता उपायों से कई रोगों को नियंत्रित किया जा सकता है। सुचारु रूप से टीके आदि उपायों द्वारा पशु प्लेग और अन्य रोगों को काफी कम किया जा सकता है। पशुओं पर पड़ने वाले जूं सरीखे बाहरी परजीवियों (पैरासाइट) को लिन्डेन सरीखे कीटनाशियों (इनसेक्टीसाइड) के तनु या हल्के विलयन के प्रयोग से नियंत्रित किया जा सकता है। बछड़ों की मरने की समस्या भारी समस्या है और नवजात बछड़े की समुचित देखभाल करके पशुओं के नाश को रोका जा सकता है। पशु अन्य तकलीफों से भी पीड़ित होते हैं जैसे कि चोट, घाव, फोड़ा (ऐब्सेस), अस्थिभंग (फ्रैक्चर) आदि से। इन सभी बातों में समय पर नियंत्रण उपाय कर लिए जाने चाहिए और पशु चिकित्सा सम्बन्धी प्रसार कार्यकर्त्ताओं की सेवाओं का पूरा लाभ उठा लिया जाना चाहिए।

गाय-भैंसों का प्रजनन

पशुओं के प्रजनन की दो विधियाँ हैं—प्राकृतिक और कृत्रिम प्रजनन। देशी गायों का विदेशी सांडों से—जैसे आयरशायर, जर्सी, ग्वीर्नसे, शौर्ट हौर्न, ब्राउन स्विस और होल्स्टीन-फ्राइसियन—संकरण कराकर नई नस्लें तैयार की जाती हैं। कृत्रिम प्रजनन में सांड का शुक्र (सीमेन) इकट्ठा करके गाय का गर्भ धारण कराया जाता है। विदेशी या देशी नस्लों की बहुत अच्छी गुणता वाले सांडों से ही शुक्र या वीर्य इकट्ठा किया जाता है। यह विधि कम खर्चीली है और इसमें यह फायदा भी है कि एक अकेले सांड से एकत्र किए गए शुक्र से अनेक दूरवर्ती स्थानों की हजारों गायों का गर्भ धारण कराया जा सकता है। स्थानीय दुधारू भैंसों का स्तर ऊंचा करने के लिए भैंसों की मुर्रा नस्लों की बड़ी मांग है। यह नस्ल भारत के अनेक स्थानों पर परिस्थितियों के प्रति अनुकूलता प्राप्त कर चुकी है।

भेड़ और बकरियों का प्रजनन

प्रजनन कार्यक्रम में यह जरूरी है कि इस प्रकार की भेड़ी अथवा बकरियों को चुना जाय जो कि स्थानीय दशाओं के लिए सबसे अधिक उपयुक्त हों। ऊन तथा मटन की किस्म तथा प्राप्ति के लिए अलग-अलग नस्लें प्रसिद्ध हैं। डौर्सेट हौर्न, सफोक कोरीडेल अथवा मेरीनो जैसी भेड़ की विदेशी नस्लों के साथ संकरण कराकर स्थानीय नस्लों की ऊन की गुणता और मात्रा में सुधार किया जा रहा है।

अभ्यास

1. 'गाय की अपेक्षा भैंस अधिक उत्तम डेयरी पशुधन है' — इस कथन की पुष्टि करो।
2. अपने देश की गायों और भैंसों की सामान्य नस्लों के नाम गिनाओ।
3. भोजन या चारे से हम क्या समझते हैं? इसके विभिन्न वर्ग और प्रत्येक वर्ग के विभिन्न अवयव या घटक बतलाओ।
4. भेड़ और बकरी की सामान्य नस्लों के नाम बतलाओ।
5. 'प्रजनन (ब्रीडिंग) से प्राणियों में दुग्ध उत्पादन और रोग प्रतिरोध की दृष्टि से सुधार हो जाता है' — इस सन्दर्भ में अपने उत्तर के साथ उपयुक्त उदाहरण भी दो।

अध्याय-33

कुक्कुटादि (पौल्ट्री)

कुक्कुट पालन या मुरगी पालन

देश के कई भागों में मुरगी पालन के क्षेत्र में बहुत अधिक प्रगति हुई है, जिससे लोगों के पोषण और अर्थ-व्यवस्था को भारी योग मिला। कुक्कुटादि हमारी पोषण की समस्या से घनिष्ठ रूप से जुड़े हैं। कुक्कुटादि या मुरगा-मुरगी तथा इनके उत्पाद प्राणि प्रोटीन के बहुत अच्छे स्रोत हैं और अच्छे स्वास्थ्य के लिए उपयुक्त प्रकार की बसा प्रदान करते हैं। मुरगी पालन बड़ा आसान धंधा है जो विविध प्रकार की जलवायु में परिस्थितियों के अनुकूल हो जाता है। कुक्कुटादि की आयु कम होती है लेकिन बड़े पशुधन की तुलना में ये प्रचुरता से प्रजनन करते हैं।

भारतीय मुरगी का औसत उत्पादन करीब 60 अंडा प्रति वर्ष है। लेकिन अब कई अधिक उत्पादन करने वाली किस्में विकसित कर ली गई हैं जो प्रति वर्ष 240 अंडे तक देती हैं। आँकड़ों के अनुसार हमारे देश में 1973-74 का अंडों का कुल उत्पादन 770 करोड़ था। शहरों के इर्द-गिर्द भारी संख्या में फार्म स्थापित किए गए हैं जिनमें से किसी किसी में तो 1,000 से भी अधिक पक्षी होते हैं। मुर्गी पालन से बहुत से पढ़े लिखे और उद्यमी लोगों को रोजगार मिला है।

कुक्कुटादि को चारा देना

कुक्कुटादि एक तरह से अपना आहार मुक्त रूप से स्वयं प्राप्त कर लेते हैं और अन्य प्रकार के पशु धन की अपेक्षा इनका चारा नियंत्रित नहीं होता। मुरगी मानव के अनचाहे या छोड़े हुए भोजन को अधिक पोषण-मान वाले भोजन में बदल देने में दक्ष होती है। कार्बोहाइड्रेट, बसा, प्रोटीन, खनिज, विटामिन और जल ही वे अनिवार्य पोषक पदार्थ हैं जिनकी आवश्यकता कुक्कुटादि को होती है। प्राकृतिक चारे या आहार में सभी पोषक पदार्थ होते हैं। यद्यपि इनकी सांद्रता भिन्न-भिन्न हो सकती है। चिड़ियों को दिए जाने वाले चारे या आहार में धान्य तथा मक्का, गेहूँ, चावल, ज्वार-बाजरा, रागी आदि धान्य उत्पाद सम्मिलित हैं। इनके चारे में खली या इसका चूरा, सांद्र रूप वाले प्रोटीन, मछली या मांस का चूरा, खनिज और साग-पात मिला दिए जाते हैं।

कुक्कुटादि गृह या मुरगी खाना

उत्तम मुरगी पालन की पहली शर्त यह है कि चिड़ियों के रहने की व्यवस्था ठीक से रखी जाय। इनको आराम-दायक, सुसंवाहित, सूखे, साफ और उचित प्रकाश वाले घरों या बाड़ों में रखना चाहिए। भिन्न-भिन्न उम्र की

चिड़ियों को हमेशा अलग अलग घरों में रखना चाहिए। मध्यम प्रकार की जलवायु वाली दशाओं के क्षेत्रों में इनको रखने के लिए पिंजरे वाली विधि अपनाई जाती है। हमारी जलवायु और आर्थिक दशाओं में सबसे उपयुक्त और लोकप्रिय विधि फर्श-आवासन (फ्लोर हाउसिंग) की विधि है, जिसे मुक्त आवासन या तृण-शैय्या प्रणाली भी कहते हैं। पक्षी मुक्त रूप से इधर-उधर घूमते रह सकते हैं और फर्श घास-फूस से ढका रहता है। यह तृण-शैय्या (लिटर) कटे पुआल, धान के भूसे, मूंगफली के छिलकों या सूखी पत्तियों आदि किसी भी चीज से बनाई जा सकती है जो कि स्थान विशेष में सस्ते में उपलब्ध हो। कुक्कुट-गृहों को चूहों से बचाकर रखा जाता है और ऐसी व्यवस्था रहती है कि पक्षियों को ताजा जल मिलता रहे। इसके लिए बहते पानी की नालियों का प्रबंध रहता है। मुर्गी खाने को स्वच्छ रखने के लिए अपवाह-तंत्र (ड्रेनेज सिस्टम) भी जरूरी है।

रोग और नियंत्रण

चारे की कमी और रोगों के कारण कुक्कुटादि का बहुत विनाश होता है। मुर्गी पालन उद्योग की सबसे प्रमुख शिकायत यह है कि यह खतरे से खाली नहीं है। रानीखेत, कोरिजा या कुक्कुट-हैजा आदि रोगों के फैलने से काफी पक्षियों की मृत्यु होती है। अच्छी व्यवस्था, उचित पोषण और चूजों की नई पीढ़ी आने पर टीका देने से रोगों को नियंत्रित किया जा सकता है। कई रोगों को ठीक करने के लिए सल्फा-औषधि वाला और विस्तृत प्रतिजैविक उपचार किया जाता है। पक्षियों को भीड़-भड़क्के, कुवातन और नमी से दूर रखना बहुत जरूरी है क्योंकि मुर्गी खानों में इनके कारण रोग फैलते हैं।

रोगों को फैलने से बचाने तथा उपचार के लिए संक्रमित पक्षियों को स्वस्थ पक्षियों से तुरन्त अलग कर कर देना चाहिए और पशु चिकित्सा सम्बन्धी सहायता ले लेनी चाहिए। कई रोग कुक्कुटादि को भिन्न-भिन्न समय पर प्रभावित करके अंडों का उत्पादन कम कर सकते हैं। कुक्कुटादि के कुछ महत्वपूर्ण रोग निम्नलिखित हैं :

विषाणु (वाइरस) रोग (वाइरल डिज़ीज़) : कुक्कुट-चेचक, रानीखेत रोग (या न्यूकैसल रोग)

जीवाणु (बैक्टीरिया) रोग —कुक्कुट, हैजा, साल्मनेलता (साल्मनेलोसिस), कोरिजा।

कवकरोग (फंगल डिज़ीज)—ऐस्पर्जिलस—आर्ति ऐस्पर्जिलोसिस।

परजीवी रोग

(क) **आन्तरिक परजीवी** : गोल कृमि, चपटे कृमि, सूत्रकृमि।

(ख) **बाहरी परजीवी** : मुर्गी-चिचड़ी (फाउल माइट), चूजा चिचड़ी (चिकन माइट), पिस्सू (फ्ली), किलनी (टिक), जूँ।

प्रजनन

भारत में देशी मुर्गा-मुर्गियों की बहुत कम विशुद्ध नस्लें हैं, जैसे असील, बसरा, घागस, ब्रह्मा, कोचीन। असील एक उत्तम प्रकार की खाद्य चिड़िया है जिसका मांस स्वादिष्ट होता है। देशी पक्षियों की अंडे देने की क्षमता सामान्यतया बहुत कम होती है।

ह्वाइट लेगहॉर्न, रोड आइलैन्ड रैड, प्लीमथ रॉक, न्यू हैम्पशायर, ओपिंगटन, औस्ट्रेलोर्प, ससेक्स, मिनोर्का आदि विदेशज नस्लें हैं और देश में अंडों के उत्पादन के सुधार के लिए इनका उपयोग हो रहा है। इनमें से अधिकांश पक्षी आयातित, प्रजनित और स्थानीय दशाओं के प्रति अनुकूलित किए गए हैं। इनमें से कुछ किस्में अंडे देने की दृष्टि से उत्तम हैं और बाकी अच्छा मांस प्रदान करने वाली चिड़ियाँ हैं।

देशी नस्लों को सुधारने के लिए इन विदेशी या विदेशज पक्षियों का इस्तेमाल किया जा रहा है। संकर-ओज (हेटेरोसिस) की खोज के प्रभावों से कुक्कुटादि-प्रजनन के रुख में परिवर्तन हुआ है। कुक्कुटादि की उत्पादनशीलता बढ़ाने के लिए संकरण का प्रयोग किया जा रहा है। कुछ नए संकर वंशक्रम (हाइब्रिड लाइन) प्रति वर्ष 230-240 अंडों का उत्पादन कर सकते हैं और साथ

ही उनकी मृत्यु दर भी कम होती है। कुछ संकर चूजों (मांस के लिए पाले जाने वाले पक्षी) की वृद्धि-दर लघु अवधि में ही बहुत अधिक हो जाती है और उनका पोषण-मान भी अधिक होता है।

अभ्यास

1. कुक्कुटादि (पौल्ट्री) के चारे में क्या-क्या तत्व होते हैं ?
2. कुक्कुटादि के सामान्य रोगों के नाम गिनाओ और बताओ कि इनका नियंत्रण कैसे किया जा सकता है ?
3. कुक्कुटादि पालन या मुर्गी पालन में प्रजनन का क्या योग है ? उदाहरण दो।

अध्याय-34

मात्स्यकी (फिशरीज़)

जल-कृषि—मात्स्यकी

मछलियाँ अधिक प्रोटीन वाले भोजन के महत्वपूर्ण और आसानी से प्राप्त होने वाले साधन है। मानव के पोषण में मछली के प्रोटीनों का महत्वपूर्ण स्थान है क्योंकि इनका पाचन आसानी से हो जाता है और इनमें वृद्धि को बढ़ावा देने वाले गुण भी होते हैं। भारत में मछलियों की अपार संपदा है जो अलवणीय (फ्रैश) तथा खारी दोनों प्रकार के जल में पायी जाती हैं। हाल के वर्षों में मात्स्यकी को बहुत अधिक बढ़ावा मिला है और वह इसलिए कि इनके प्रोटीन खाद्य पदार्थ के स्रोत के रूप में लोकप्रिय होने और इनके द्वारा निर्यात की बढ़ती आवश्यताओं की पूर्ति करने की बहुत अधिक संभावनाएँ हैं। मत्स्य उद्योग के विकास से रोजगार की संभावनाएँ भी बढ़ जाती हैं। भारत के पास मात्स्यकी (फिशरीज़) को एक सम्पन्न बड़े उद्योग में विकसित करने की पूरी क्षमताएँ हैं।

हमारे देश में लम्बी समुद्र तट रेखा और विशाल सागर संपदा ही नहीं है बल्कि असंख्य स्थानों पर जल अन्दर की ओर अंत: स्थलीय (इनलैन्ड) रूप में भी पसरा हुआ है। इसकी समुद्र तट रेखा 4667 किमी० तक फैली हुई है और महाद्वीपीय शेल्फ (कोन्टीनेन्टल शेल्फ) 2.59 लाख वर्ग किमी० क्षेत्र तक। इसके अतिरिक्त अंडमान निकोबार, लक्षद्वीप तथा मिनिकॉय द्वीप समूह, और गरान कच्छ (मैंग्रोव मार्श) से सम्बद्ध अप तटीय (ऑफ शोर) और समुद्र तटीय क्षेत्र समुद्री मछलियों के विशाल स्रोत हैं। इनके अलावा देश के जो पृष्ठीय या सतही जल क्षेत्र हैं वे अंत: स्थलीय मात्स्य के उत्कृष्ट केन्द्र हैं, और इनमें 27,360 कि०मी० लम्बी नदियाँ, करीब 1,12,650 किमी० लम्बी कुल्याएँ (केनाल) व सिंचाई वाली नहरें, अनेक जलाशय, ताल और तलैया सम्मिलित हैं। जल कृषि (ऐक्वा कल्चर) का अर्थ है अलवणीय जल, खारी जल और समुद्रतटीय क्षेत्रों के समुचित उपयोग से मछलियों का उत्पादन करना। प्रोटीन बहुल खाद्य पदार्थों का उत्पादन बढ़ाने और सहायक उद्योगों को आधार प्रदान करने तथा रोजगार बढ़ाने में जल-कृषि सचमुच महत्वपूर्ण रोल अदा करती है। इस प्रयोजन के लिए जल्दी-जल्दी वृद्धि करने वाली मछलियों को ही चुना जाता है।

1973-74 के दौरान हमारे देश में मछलियों का कुल उत्पादन 19.58 लाख टन था जिसमें समुद्री मछलियों का उत्पादन 12.10 लाख टन था। वर्तमान समय में भारत दुनिया के उन छह देशों में से एक है जो समुद्र से खाद्य पदार्थ उत्पन्न करते हैं। अन्य देशों को समुद्री खाद्य पदार्थ भेजने वाले देश के रूप में भारत उभर कर सामने आ रहा है।

अंत: स्थलीय या अलवण-जलीय मात्स्यकी

अंत: स्थलीय मत्स्य उद्योग का सम्बन्ध उस जल से है जो समुद्री जल के अतिरिक्त होता है। अपनी

विशाल और विविध प्रकार की अंतः स्थलीय मत्स्य उद्योग संपदा की दृष्टि से भारत दुनिया का एक धनी देश है। यह जल दो प्रकार का होता है---अलवणीय और खारी। अलवणीय जल के अन्तर्गत देश के वृहत् नदी तंत्रों, सिंचाई वाली नहरों, जलाशयों, झीलों, ताल तलैयों आदि का विशाल जाल है। खारी या नुनखरे जल में ज्वारनदमुख (एस्चुअरी), लैगून और गरान अनुप (मैंग्रोव स्वैम्प) आते हैं।

संवर्धन-मात्स्यकी, जिसे कि मस्य पालन (पिसिकल्चर) भी कहते है, छोटे जल-क्षेत्रों से सम्बद्ध है और इसमें बीजरूप वाली मछलियों को बोकर, पाल-पोस कर अंत में खाए जाने वाले आकार तक बढ़ जाने पर पकड़ कर इनका उपयोग कर लिया जाता है। लेकिन इसके विपरीत नदियों, ज्वारनदमुखों (एस्चुअरी), बड़े जलाशयों तथा बड़ी झीलों से सम्बद्ध प्रग्रहण मात्स्यकी (कैप्चर फिशरीज) में बोआई नहीं होती और मछलियाँ केवल पकड़ी ही जाती हैं।

संवर्धन योग्य (कल्चरेबल) कुछ महत्वपूर्ण अलवण जलीय मछलियां निम्नलिखित हैं :

1. **कैटला**	2. **लेबियो**
3. **सिर्राइनस**	4. **बारबस**
5. **सिप्रिनस**	6. **मिस्टस**
7. **चैना**	8. **क्लैरियस**
9. **हेटरोप्न्यूस्टीस**	10. **टिन्का**

समुद्री मात्स्यकी

समुद्री मत्स्य पालन (फिशरी) मछली पालन के समुद्री और महासागरों वाले पहलुओं से सम्बन्धित है। अभी कुछ समय पहले तक भारत में समुद्र से मछली पकड़ने की संक्रियाएं संकरे समुद्रतटीय क्षेत्रों तक ही सीमित थीं और अपतटीय तथा गहरे सागरी प्रदेश (डीप सी रीजन) अछूते थे। हाल के सर्वेक्षण से दक्षिण-पश्चिमी समुद्री अपतटों पर सारडीन, बाँगड़ा (मैकरल) आदि की अपार संपदा का पता चला है। देश के प्रमुख पत्तनों (पोर्ट) पर मत्स्यन पोताश्रय (हारबर) विकसित किए गए हैं। यांत्रिक मत्स्यन-नौकाओं (मेकेनाइज्ड फिशिंग वोट) का प्रचलन शुरू करके गहरे सागरी मत्स्यन (डीप सी फिशिंग) के विकास पर विशेष बल दिया गया है। मछलियों का पता लगाने वाले आधुनिक इलेक्ट्रोनिक उपस्कर (इक्विपमेन्ट) से सुसज्जित मत्स्यन-आनायकों (फिशिंग ट्रॉलर) का भी हाल के कुछ वर्षों से खूब प्रयोग किया जाने लगा है ताकि सागर की गहराइयों में मछली पकड़ने वाले धंधे को बढ़ावा दिया जा सके। कोचीन स्थित समेकित मात्स्यकी परियोजना केन्द्र (इन्टिग्रेटेड फिशरीज प्रोजेक्ट) दक्षिण पश्चिमी एशिया का अपने प्रकार का बहुत बड़ा केन्द्र है, जो समुद्री संपदा सम्बन्धी अन्वेषण में लगा है कि किस प्रकार पूरी तरह से दोहन किया जाय।

भारत के इर्द-गिर्द वाले सागरों में पाई जाने वाली महत्वपूर्ण मछलियाँ निम्नलिखित हैं :

1. **हिल्सा**
2. बांगड़ा (**मैकरल**)
3. बम्बिल (बम्बई डक)
4. शिंगटी (कैट फिश)
5. फीता मीन (रिबन फिश)
6. कड़ाकेला (रेड मलेट)
7. उड़न मीन (फ्लाइंग फिश)
8. सारडीन
9. तेल सारडीन (ऑयल सारडीन)
10. **मुजिल**

यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि मात्स्यकी या मत्स्य विज्ञान में कुछ अन्य प्राणी—जैसे कि समुद्री झींगा या प्रौन, महाचिंगट (लोब्स्टर), झींगी (श्रिम्प), खाद्य सीप (इडिबल आयस्टर) तथा मोती-सीपी (पर्ल आयस्टर) भी सम्मिलित हैं।

हाल के वर्षों के दौरान समुद्री उत्पादों का निर्यात बहुत अधिक बढ़ा है। यह जरूर है कि शीत संग्रहण और परिवहन की अपर्याप्त सुविधाओं के कारण बाजार में भेजने के पहले ही पकड़ी मछलियों में काफी नुकसान होता रहा है। लेकिन हाल के कुछ वर्षों में शीत संग्रहण (कोल्ड स्टोरेज) और प्रशीतित परिवहन (रेफ्रीजरेटेड ट्रान्सपोर्ट) की सुवि-

धाओं में बहुत वृद्धि हुई है और अब देश में मछलियों को आसानी से अच्छी तरह इधर-उधर पहुँचाया जा सकता है। मछलियों के संसाधन (प्रोसेसिंग) में मछली उद्योगों में काफी कुछ अंश बेकार बच जाता है। इस कच्ची सामग्री से कुक्कुटादि उद्योगों के उपयोग के लिए मछली का चूरा या मत्स्य चूर्ण (फिश मील) तैयार किया जाता है।

अभ्यास

1. जल-कृषि (ऐक्वाकल्चर) शब्द की परिभाषा बताओ।
2. मत्स्य पालन (पिसिकल्चर) से हम क्या समझते हैं?
3. अपने देश की समुद्री मछलियों की महत्वपूर्ण जातियों के नाम गिनाओ।

अध्याय-35

संचरणीय रोग

सामान्य स्वास्थ्य में जरा भी परिवर्तन हो जाने पर रोग हो जाता है। रोग शारीरिक, मानसिक अथवा सामाजिक किसी भी प्रकार के हो सकते हैं। मोटे तौर पर इन्हें दो वर्गों में बाँटा जा सकता है। पहली प्रकार के यानी **जन्मजात (कोनजैनाइटल)** वे रोग हैं जो पैदा होते ही लग जाते हैं और जो उपापचयी (मेटाबोलिक) गड़बड़ी या परिवर्धन सम्बन्धी दोषों के परिणामस्वरूप उत्पन्न होते हैं; और दूसरी प्रकार के रोग हैं **उपार्जित (अक्वायर्ड)** जो जन्म के बाद पनपते हैं।

उपार्जित रोगों को निम्नलिखित समूहों में बाँटा जा सकता है :

(i) **संक्रामक (इनफेक्शस) रोग** : जो विषाणु (वाइरस), जीवाणु (बैक्टीरिया), प्रोटोजोआ, कवकों और कृमियों (वर्म) के कारण होते हैं।

(ii) **व्यपजनन रोग (डीजेनेरेटिव डिज़ीज)** : जो फेफड़े, हृदय सरीखे महत्वपूर्ण अंगों तथा केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र (सेन्ट्रल नरवस सिस्टम) की कुसंक्रियाओं से उत्पन्न होते हैं।

(iii) **हीनता जन्य (डेफीशिएन्सी) रोग** : जो एक या अधिक पोषक पदार्थों की कमी से उत्पन्न होते हैं।

(iv) **एलर्जी** : जो कुछ पदार्थों के प्रति शरीर की अतिसंवेदनशीलता से उत्पन्न होते हैं।

(v) **कैंसर** : जो शरीर के अंगों में ऊतकों की अनियंत्रित वृद्धि के कारण होते हैं।

उपार्जित रोगों में कुछ संक्रामक रोग संचरणीय (कम्युनिकेबल) होते हैं अर्थात ये ऐसे रोग हैं जो एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में बड़ी तेजी से फैल या पहुंच जाते हैं। इसलिए इन्हें **संचरणीय** रोग कहा जाता है। उपार्जित रोगों में अन्य रोग **असंचरणीय रोग** होते हैं।

सामुदायिक स्वास्थ्य की प्रमुख समस्या संचरणीय रोगों के नियंत्रण और रोकथाम की समस्या रही है। पहले इनका नियंत्रण व रोकथाम गम्भीर समस्या थी। प्लेग, टाइफस और ऐसे अनेक रोग पहले बहुत जानें लेते रहे हैं। पिछली शताब्दी में ही हम इन रोगों से सुचारु रूप से लड़ने के साधन ढूंढ़ पाए हैं। हाल के वर्षों में संचरणीय रोगों के प्रति हमारी सफलता ने जीवन के प्रति हमें अधिक आशावान बना दिया है। रोगों से इस लड़ाई में तीन महत्वपूर्ण चरण रहे हैं :

(क) इन रोगों की प्रकृति की जानकारी यानी रोगकारी जीव और उसका जीवनचक्र। इसके बारे में हमें जो जानकारी हुई है वह **परजीवीविज्ञान (पैरासिटोलॉजी)** के क्षेत्र में हुए अनुसंधानों के बल पर प्राप्त हुई।

(ख) रोगों के संचरण की विधि यानी रोगकारी जीवन मानव पर किस प्रकार आक्रमण करता

है । महामारी विज्ञान (एपिडीमोलॉजी) की सहायता से हम संचरण की विधि का पता लगा सके हैं और इस प्रकार हम जन स्वास्थ्य उपयोगों को सुनियोजित करने में सफल हो सके हैं ।

(ग) रोग के आक्रमण को रोकने की रक्षा-क्रिया-विधि का विकास । प्रतिरक्षाविज्ञान (इम्म्यूनोलॉजी) ने इन रोगकारी जीवों के आक्रमण के प्रति काफी अधिक सुरक्षा प्रदान की है ।

मानव ने इन संचरणीय रोगों के विरुद्ध किस प्रकार युद्ध ठाना ? बहुत पुराने समय से ही रोगों के प्रति मानव ने चिंता प्रकट की है । आरम्भिक मानव ने सोचा कि बीमारियाँ बुरी आत्माओं के कारण होती हैं । इसलिए उनके निराकरण और उपचार के लिए बुरी आत्माओं को संतुष्ट किया जाने लगा और रोकथाम के लिए यंत्र-तंत्र और जादू टोने का प्रयोग होने लगा ।

महान यूनानी चिकित्सक हिपोक्रेटीज (460-359 ई० पू०) ने चार मनोदशाओं का सिद्धान्त प्रस्तुत किया । उसने कहा कि रोग चार तत्वों में—कफ, रुधिर, पीला पित्त और काला पित्त में— असंतुलन हो जाने से उत्पन्न होते हैं । इस तरह सोलहवीं शताब्दी तक उसका सिद्धान्त आयुर्विज्ञान के मत पर छाया रहा ।

परजीवीविज्ञान की नींव

आज आधुनिक युग में संचरणीय रोगों की संकल्पना को जिस रूप में हम समझते हैं वह तभी संभव हो सका जबकि यह महसूस किया गया कि रोगाणु या जर्म ही रोग उत्पन्न करते हैं । सन् 1835 में सूक्ष्मदर्शी (माइक्रोस्कोप) का आविष्कार होने पर ही लोगों को रोगकारी सूक्ष्म जीवों की प्रकृति की जानकारी हुई । ज्यों-ज्यों मानव-परजीवियों के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान बढ़ता गया त्यों-त्यों यह प्रकट होता गया कि संचरणीय रोग जीवाणुओं (बैक्टीरिया) और विषाणुओं (वाइरस) द्वारा होते हैं । रोगों के जर्म सिद्धान्त की स्थापना का श्रेय लुई पास्तेर और राबर्ट काख़ को जाता है । जैसे-जैसे जीवाणु सम्बन्धी हमारा ज्ञान बढ़ता गया वैसे-वैसे विभिन्न रोगों के लिए जिम्मेदार नए-नए जीवाणुओं की खोज होती रही । आज हमें अधिकांश जीवाणु-रोगों की पूरी जानकारी है । सन् 1890 में इस बात की खोज हुई कि तम्बाकू के पौधे का मोज़ेक रोग और पशुओं के खुर तथा मुख रोग ऐसे सूक्ष्म जीवों से होते हैं जो कि सूक्ष्मदर्शी में भी नहीं दिखलाई पड़ते । इसी से विषाणुओं (वाइरसों) के अध्ययन की नींव पड़ी । चेचक, खसरा, जुकाम, पोलियो आदि रोग विषाणुओं द्वारा होते हैं ।

महामारी विज्ञान की नींव

जॉन स्नो को महामारी विज्ञान यानी संचरणीय रोगों के प्रसार सम्बन्धी विज्ञान का जनक माना जाता है । लन्दन से एशियाई हैज़ा की महामारी पर खोज करते हुए जॉन स्नो ने पता लगाया कि वह ब्रॉड स्ट्रीट में प्रदूषित (पौल्यूटेड) जल के कारण था, जो कि हैज़ा के रोगाणुओं (जर्म) से संदूषित था । इस प्रकार रोगकारी जीव की पहचान के पहले ही उसके फैलने की विधि की पहचान हो गई ।

प्रतिरक्षाविज्ञान (इम्म्यूनोलॉजी) की नींव

इस बात की खोज के पहले कि सूक्ष्मजीव रोग उत्पन्न करते हैं महामारी विज्ञान और प्रतिरक्षाविज्ञान का कुछ ज्ञान हो गया था । प्रतिरक्षाविज्ञान के क्षेत्र में एडवर्ड जेनर द्वारा चेचक के टीके की खोज पहला कीर्ति स्तम्भ है । जेनर ने आम धारणा की परीक्षा की कि जिस व्यक्ति को गो चेचक हुई होती है, सामान्यतया वह चेचक के प्रति प्रतिरक्षित(इम्म्यून) होता है । उसने सजीव पदार्थ के प्रयोग से चेचक का टीका तैयार किया । लुई पास्तेर का प्रतिरक्षा विज्ञान में योगदान इस टीके के अनुभव वाले जर्म आधारित रोग के सिद्धान्त के अनुप्रयोग पर आधारित था । उसने अपना तर्क रखा कि यदि गाय के शरीर में चेचक के जर्म को निर्बल कर दिया जाय तो ताप, शीत, भुखमरी व अन्य साधनों से अन्य जर्मों (रोगाणुओं) को निर्बल या सक्रिय किया जा सकता है ।

एंथ्रैक्स के टीके का विकास और अलर्क या रेबीज़ का उपचार लुई पास्तेर के कुछ उल्लेखनीय योगदान हैं ।

आज हम प्रतिरक्षीकरण प्रक्रिया को अच्छी तरह समझ गए हैं और पुराने समय के कई खतरनाक रोग अब पूरे नियंत्रण में हैं। उचित स्वच्छता और जन स्वास्थ्य उपायों के परिणामस्वरूप इन रोगों की रोकथाम संभव हो गई है। हमारे देश में नियमित रूप से सामूहिक प्रतिरक्षी कार्यक्रम और सामुदायिक स्वास्थ्य सम्बन्धी प्रयत्नों से चेचक का उन्मूलन कर दिया गया है।

संचरणीय रोगों की प्रकृति, कारण और महामारी विज्ञान

विभिन्न संचरणीय रोगों की प्रकृति को समझने के पहले आधारभूत शब्द समूह का ज्ञान जरूरी है। इन रोगों के सम्बन्ध में हम कुछ शब्दों के सम्पर्क में आते हैं, जैसे कि संक्रमण, ग्रसन (इनफेस्टेशन), परजीविता (पैरासिटिज्म), रोगजनक (पैथोजन), प्रतिरोध (रेसिस्टेन्स) और सुग्रहिता (ससेप्टिबिलिटी)।

संक्रमण का अर्थ है परपोषी (होस्ट) और परजीवी (पैरासाइट) के बीच होने वाली आपसी क्रिया, जिसमें एक दूसरे पर हावी होने या अधिकार जमाने की होड़ लगी रहती है। इसमें यदि परजीवी जीव जीत जाता है तो परपोषी में रोग उत्पन्न हो जाता है।

ग्रसन का अर्थ है परपोषी के शरीर में एक ही प्रकार के रोगकारी जीव का भारी संख्या में विद्यमान होना।

परजीविता एक ऐसा सम्बन्ध है जिसमें एक जीव दूसरे के बल पर जीवित रहता है। संक्रमण एक प्रकार की परजीविता है।

रोगजनक वह जीव है जो किसी रोग को उत्पन्न करने की क्षमता रखता है। रोगजनकता (पैथोजेनिसिटी) किसी रोगजनक की वह क्षमता है जिसके बूते पर वह परपोषी के शरीर में प्रवेश कर रोग के लक्षण उत्पन्न करता है। रोगजनकता की मात्रा उसकी उग्रता (विरुलेन्स) कहलाती है।

प्रतिरोध किसी जीव की वह क्षमता है जिसके बल बूते पर वह संक्रमण से टक्कर लेकर उसे दूर भगाता है। प्रतिरोध प्राकृतिक अथवा उपार्जित हो सकता है। उपार्जित प्रतिरोध रोग के पूर्व सम्पर्क या टीके के कारण हो सकता है।

संक्रमण को प्रभावित करने वाले कारक

कई कारक हैं जो संक्रमण पर प्रभाव डालते हैं :

(क) **ऊतक बंधुता** (टिश्यू ऐफिनिटी) : कुछ रोगजनक (पैथोजेन) कुछ ऊतकों के प्रति अधिक आकर्षित होते हैं। कुछ जीवों में एक अवस्था में किसी एक ऊतक के प्रति और दूसरी अवस्था में किसी दूसरे ऊतक के प्रति आकर्षण या बन्धुता होती है। उदाहरण के लिए, किसी अवस्था में मलेरिया-परजीवी (मलेरियल पैरासाइट) अपने जीवन इतिहास में मानव की लाल रुधिर कोशिका पर संक्रमण करता है तो दूसरी अवस्था में मच्छर पर।

(ख) **अतिसंवेदनशीलता** (हाइपरसेन्सिटिविटी) : प्राणियों के ऊतक कभी-कभी कुछ जीवाणु-कोशिकाओं अथवा उनके उपापचयी उत्पादों के प्रति असामान्य रूप से संवेदनशील हो जाते हैं। यक्ष्मा (ट्यूबरकुलेसिस) की उपस्थिति देखने के लिए त्वचा परीक्षण में इस तकनीक का प्रयोग किया जाता है। यह कारक (फैक्टर) कुछ में चिरकारी (क्रोनिक) रोग उत्पन्न करता है।

(ग) **संक्रामक मात्रा** : परपोषी में रोग उत्पन्न करने के लिए जीवों की जितनी संख्या की आवश्यकता होती है उसे **संक्रामक मात्रा** कहते हैं। यह परपोषी और सूक्ष्म जीव के विभेद (स्ट्रेन) के प्रकार के अनुसार बदलती रहती है। यह संक्रामक मात्रा विभेद की उग्रता पर निर्भर करती है। अधिक उग्र विभेद को कम संक्रामक मात्रा की जरूरत होती है यानी रोगकारी जीव कम संख्या में ही रोग उत्पन्न कर सकता है।

(घ) **प्रवेश द्वार** : संक्रमण करने के लिए रोगजनक को निश्चित रास्ते या प्रवेश द्वार से पर्याप्त संख्या में प्रवेश करना जरूरी है। उदाहरण के लिए, टायफायड, हैजा सरीखे रोगों का प्रवेश आहार नाल द्वारा होता है। डिप्थीरिया, यक्ष्मा और न्यूमोनिया के रोगजनकों को श्वसन मार्ग

से प्रवेश करना चाहिए। कुछ रोगजनक परपोषी कोशिका में कीटों के काटने या दंश के माध्यम से प्रवेश करते हैं। इस प्रकार का प्रवेश मार्ग प्राकृतिक रोध के कारण चुना गया।

(ङ) **संचरणीयता** : कोई रोगजनक किसी रोग की महामारी नहीं उत्पन्न कर सकता जब तक कि उसे संक्रमण करने के लिए सुग्राही व्यक्ति नहीं मिलते। अपने प्रभाव में हर प्रकार की महामारी स्वतः सीमा कारक होती है क्योंकि रोगजनक अंततः उसी परपोषी को नष्ट कर देता है जो कि उसका पोषण करता है। इस तरह यदि रोगजनक संक्रमण के लिए नया परपोषी नहीं तलाश पाता तो उसके परपोषी की मौत का मतलब है खुद उसकी मौत।

इसलिए संचरणीयता महत्वपूर्ण है जो दो कारकों पर निर्भर करती है—परपोषी से रोगजनक (पैथोजन) की निकासी और सुग्राही (ससेप्टिबल) व्यक्ति की उपस्थिति। रोगजनक की निकासी परपोषी में संक्रमण की स्थिति पर निर्भर करती है। उदाहरण के लिए, टायफायड ज्वर का रोगजनक विष्टा के साथ और यक्ष्मा का रोगजनक थूक के साथ निकलता है।

संचरणीय रोगों का वर्गीकरण

जन स्वास्थ्य की दृष्टि से संचरणीय रोग सामान्यतया एक आदमी से दूसरे आदमी तक संचरण की विधि के आधार पर वर्गीकृत किए गए है। यह वर्गीकरण इस प्रकार किया जाता है—सम्पर्क से संचरित, हवा द्वारा संचरित, भोजन और पानी द्वारा सचरित, कीट द्वारा संचरित।

रोगकारी जीवों की प्रकृति के अनुसार संचरणीय रोगों को जीवाणविक (बैक्टीरियल), विषाणविक (वाइरल), प्रोटोजोआई, कृमीय और कवकीय वर्गों में बांटा जा सकता है।

जीवाणु या बैक्टीरिया द्वारा होने वाले रोग

जीवाणुओं द्वारा होने वाले महत्वपूर्ण रोगों में जिन रोगों का विवेचन यहाँ किया जाएगा वे हैं हैजा, डिफ्थीरिया, यक्ष्मा, कुष्ठ रोग, टिटेनस, टायफायड और प्लेग। इनमें से कुछ रोग तो बहुत आम हैं और कुछ कभी कभार ही होते हैं। कुछ महामारी के रूप में फैलते हैं और कुछ नहीं।

हैज़ा (कॉलरा)

हमारे देश में मेलों के दौरान और बाढ़ आदि अन्य प्राकृतिक प्रकोपों के कारण हैज़ा महामारी के रूप में फैलता है। हैज़ा का रोग बहुत पुराने समय से जाना हुआ रोग है, जो बहुत नुकसान पहुँचाता रहा है। उष्मायन अवधि (इनक्यूबेशन पीरियड) यानी शरीर के अन्दर जीव के प्रवेश से लेकर लक्षणों के प्रकट होने तक की अवधि सामान्यतया कुछ घंटों से लेकर दो या तीन दिन होती है।

इसके लक्षण हैं वमन या कै, बहुत अधिक दस्त और पेशीय ऐंठन। पाखाना 'चावल के पानी' जैसा दिखलाई देता है। इन लक्षणों के परिणामस्वरूप निर्मलीकरण (डीहाइड्रेशन), खनिजों की हानि और रोग की उग्र अवस्था में तो मृत्यु तक हो जाती है।

इसका रोगकारी जीव है **विब्रियो कॉमा**, जो ग्रैम-अग्राही (ग्रैम-निगेटिव) बैक्टीरिया है। इसका संचरण संदूषित भोजन और जल के माध्यम से होता है। इसकी रोकथाम के मुख्य उपाय हैं—भोजन को खूब गरम करना, पानी को उबाल कर पीना, मल पदार्थ का उचित निपटान और पीने के पानी के स्रोत की सुरक्षा।

रोगकारी जीव को मारकर वैक्सीन तैयार करके सक्रिय रूप से प्रतिरक्षा की जाती है। वैक्सीन को हमेशा ही लेते रहना चाहिए, विशेषकर उस क्षेत्र में यात्रा करते समय जहाँ कि यह रोग हो रहा हो या महामारी के फैलने के दौरान। लेकिन उचित प्रकार की स्वच्छता रखना एक उत्तम नियंत्रण उपाय है क्योंकि अर्जित की गई प्रतिरक्षा केवल थोड़ी ही अवधि तक चलती है।

डिफ्थीरिया

डिफ्थीरिया एक भयानक रोग है जिसमें गले में एक अर्धठोस पदार्थ रिसकर निकलता है और जो कि एक कड़ी झिल्ली में बदल जाता है। इसमें सामान्यतया रोग की उग्र प्रतिक्रिया स्वरूप शरीर में रोगकारी जीवों द्वारा उत्पन्न आविष (टॉक्सिन) के प्रति अनुक्रिया होती है।

रोग प्रायः सम्पर्क के दो से लेकर पाँच दिन के अन्दर पनपता है। हो सकता है कि रोग के आरम्भिक लक्षण उग्र न हों, जैसे कि हल्का ज्वर, खराब गला और सामान्य अस्वस्थता का महसूस किया जाना। लेकिन बाद में लक्षण बहुत उग्र हो सकते हैं और कई गड़बड़ियाँ हो सकती हैं। इनमें कुछ लक्षण हैं—गले में कड़ी झिल्ली बनने के कारण अवरोध हो जाने से सांस लेने में कठिनाई होना, सूजन और शोथ (इनफ्लैमेशन)। ऐसी गड़बड़ियाँ होने पर शल्यकर्म जरूरी हो सकता है। यदि डिप्थीरिया करने वाले जीवों द्वारा हृदय पर आक्रमण होता है तो हृदय का बड़ी तेजी से घातक अवरोध हो सकता है।

यद्यपि डिप्थीरिया अधिकांशतया बच्चों में ही होता है लेकिन यह रोग बड़ों पर भी आक्रमण कर सकता है। यदि रोग का उपचार काफी जल्दी शुरू कर दिया जाता है तो वह कारगर होता है। लक्षणों के प्रकट होने के पहले 12 से 24 घंटों में जब डिप्थीरिया-प्रति-आविष (ऐन्टी-टॉक्सिन) दिया जाता है तो वह उत्पन्न आविष या टॉक्सिन को पूरी तरह से निष्प्रभावित कर देता है और रोगी को गम्भीर क्षति से बचा लेता है। यदि यह 24 घंटे बाद दिया जाता है तो अधिकतम मात्रा भी रोगी को रोग की उग्रता या मृत्यु से नहीं बचा सकती। यह प्रति-आविष या ऐन्टीटॉक्सिन इंजेक्शन के रूप में प्रायः एक मात्रा में दिया जाता है। यद्यपि पेनीसिलिन और अन्य प्रति जैविक पदार्थ (ऐन्टिबायोटिक) अच्छा असर दिखला सकते हैं, लेकिन पहला उपचार प्रति-आविष का इंजेक्शन देना ही होता है।

बच्चों को जब डिप्थीरिया से प्रतिरक्षित किया जाता है तो यह प्रतिरक्षा (इम्म्यूनिटी) पूरे जीवन नहीं चलती। अब तो इस बात का प्रचलन हो गया है कि बच्चों को टिटेनस और कुकुरखाँसी (हूपिंग कफ) के साथ ही डिप्थीरिया से भी प्रतिरक्षित कर दिया जाता है। कई प्रकार से गुणकारी यह वैक्सीन या दवा इन तीनों रोगों से बच्चों को एक साथ प्रतिरक्षित कर देती है। प्रौढ़ को डिप्थीरिया से प्रतिरक्षित करना काफी कठिन काम है। फिर भी टॉक्सॉयड की छोटी मात्राएँ प्रौढ़ों के लिए उपयुक्त साबित होती हैं।

यक्ष्मा (ट्यूबरकुलेसिस)

यक्ष्मा के जीवाणु (बैक्टीरिया) शरीर के किसी भी भाग पर आक्रमण करके ऊतकों को नष्ट कर सकते हैं। फेफड़े इस जीवाणु के सुग्राही संक्रमण स्थल हैं। ये ट्यूबरकुलिन नामक आविष (टॉक्सिन) उत्पन्न करते हैं। रोग की उग्र अवस्था वाले रोगी के नाक और गले से विसर्जित पदार्थों से ही अधिकांशतया यह रोग फैलता है। फुप्फुसीय (पल्मोनरी) या फेफड़ों की यक्ष्मा के लक्षण हैं—ज्वर या बुखार, खांसी, थूक में खून, छाती में दर्द और शरीर के वज़न में कमी।

यक्ष्मा का वास्तविक निदान धनात्मक ट्यूबरकुलिन परीक्षण, छाती के एक्स-रे, धनात्मक थूक, जठरीय पदार्थों के विश्लेषण और गिनी पिग के टीके के आधार पर किया जाता है। यक्ष्मा आनुवंशिक या पैतृक रोग नहीं है। यक्ष्मा के आधुनिक उपचार में छह मुख्य कारक हैं—आराम, आहार, दवाएँ, शल्यकर्म, स्वास्थ्य लाभ और स्वास्थ्य शिक्षा। बी० सी० जी० के टीके से रोग के प्रति काफी सुरक्षा रहती है। इसकी वैक्सीन या दवा का इंजेक्शन त्वचा में दिया जाता है। रोग के नियंत्रण के लिए अन्य उपाय भी किए जाते हैं। जन स्वास्थ्य और आयुर्विज्ञान के विशेषज्ञों की चेतावनी है कि बी० सी० जी० का टीका अन्य उपायों के बदले में नहीं बल्कि उनके संपूरक उपाय के रूप में इस्तेमाल किया जाना चाहिए। यक्ष्मा के सम्पर्क में निरन्तर कार्य करने वालों को यानी नर्सों, आयुर्विज्ञान के विद्यार्थियों, अस्पताल के कर्मचारियों और रेजिडेन्ट चिकित्सकों को यक्ष्मा के प्रति प्रतिरक्षित कर लिया जाना चाहिए।

कुष्ठ रोग (लेप्रोसी)

यह कुष्ठ के बैसिलस (बैक्टीरिया) द्वारा होने वाला एक चिरकारी (क्रोनिक) संचरणीय रोग है। इस रोग की विशेषताएँ हैं—त्वचा के विक्षतों (लेजन), और परिधीय तंत्रिकाओं (पेरीफेरल नर्व) का प्रभावित होना जिससे संक्रमित क्षेत्र सुन्न हो जाता है। इसके अलावा अन्य लक्षण हैं—व्रण या अल्सर, ग्रंथिकाएँ या गाँठें, शल्की कच्छु (स्कैली स्कैब), अंगुलियों व पादांगुलियों की विरूपता (डिफॉर्मिटी) तथा शरीर के भागों का क्षय।

रोग तभी संचरणीय होता है जब रोगी भागों के साथ लम्बे समय तक सम्पर्क रहता है। लेकिन यह रोग

अधिकांश संचरणीय रोगों से अधिक भयानक है क्योंकि यह सामाजिक कलंक से सम्बंधित है। रोगी के रोग-मुक्त हो जाने के बाद भी उसका पुनर्वास करना बहुत कठिन होता है। इसलिए लोगों को इस रोग की वास्तविक प्रकृति के बारे में शिक्षित करना बहुत जरूरी है।

धनुस्तम्भ (टिटेनस)

यह एक गम्भीर रोग है जो घाव के प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष संरोपण (इनॉक्युलेशन) से संचरित होता है। इसकी ऊष्मायन-अवधि (इनक्यूबेशन पीरियड) सामान्यतया तीन से चार हफ्ते होती है।

इसका लक्षण है—पेशियों में पीड़ा देने वाला संकुचन (प्राय: गर्दन और जबड़े की पेशियों का), जिसके बाद वक्ष की पेशियों का अंगघात या पैरालिसिस हो जाता है और अन्ततः जिसमें प्राय: मृत्यु भी हो जाती है। इसी लक्षण के कारण इसे 'लॉक जॉ' या धनुस्तम्भ या धनुष्टंकार भी कहते हैं।

इसका कारणात्मक या रोगकारी जीव **क्लोस्ट्रीडियम टिटेनी** है। यह जल में घुलनशील आविष (टॉक्सिन) उत्पन्न करता है जो शरीर में परिसंचरित होता रहता है। जब कभी घाव रोगजनक (पैथोजेन) से संदूषित होता है तभी संक्रमण हो जाता है। यह एक आदमी से दूसरे आदमी में संचरित नहीं होता और संक्रमण केवल प्रत्यक्ष सम्पर्क से ही होता है। कभी भी सड़क दुर्घटना में घाव होने पर या गन्दी वस्तुओं, सड़क की धूल या प्राणियों की विष्टा से चोट के कटे भागों के संदूषित होने पर प्रति-टिटेनस (ऐन्टि-टिटेनस) टाक्साइड का इंजेक्शन लगवा लेना चाहिए।

अब यह आम प्रचलन हो गया है कि शिशुओं को टिटेनस, डिप्थीरिया और कुकुर खाँसी (हूपिंग कफ) से प्रतिरक्षित कर दिया जाता है। लेकिन हर तीसरे और पाँचवे साल के बाद फिर से प्रतिरक्षित करना भी जरूरी होता है।

टायफायड

टायफायड-ज्वर की विशेषता है लगातार बुखार का बने रहना जिसमें प्राय: सन्निपात (डेलीरियम), मन्द नाड़ी, उदरीय मृदुता और गुलाबी रंग का उद्गार या दाने होते हैं। टायफायड-ज्वर आंत्र द्वारा विसर्जित पदार्थों से फैलता है। कोई भी व्यक्ति जिसके आंत्र-पथ में टायफायड ज्वर के रोगाणु (जर्म) होते हैं वह औरों में रोग फैला सकता है भले ही वह व्यक्ति खुद रोग से पीड़ित न हो। ऐसे व्यक्तियों को **स्वस्थ रोगवाहक** कहा जाता है।

इसके अतिरिक्त प्रत्येक व्यक्ति जो रोग से पीड़ित होता है वह तो औरों में रोग फैला ही सकता है। मुख्यतया यह संदूषित जल और भोजन से फैलता है।

टायफायड-ज्वर या मियादी बुखार का निदान रोगी की आंत्र द्वारा विसर्जित पदार्थ में रोगकारी जर्म के प्रयोगशाला परीक्षण से किया जाता है। हाल के कुछ वर्षों से शल्य कर्म द्वारा पित्ताशय (गॉल ब्लैडर) को निकाल कर टायफायड वाहकों (कैरियर) का उपचार करने के प्रयत्न किए गए हैं क्योंकि इसमें जर्म या रोगाणु जमा होते रहते हैं। इसके अलावा क्लोरोमाइसिटिन सरीखे प्रति-जैविकों (एन्टिबायोटिक) से भी उपचार किया जाता है।

टायफायड-ज्वर का बचाव व रोकथाम उचित सामुदायिक स्वच्छता, जल की सुरक्षा, मक्खियों के संदूषण से भोजन की रक्षा, और व्यक्तिगत स्वच्छता पर आधारित है। किसी भी उम्र में रोग की महामारी या बाढ़ व तूफान सरीखे प्रकोप के दौरान टायफायड ज्वर के प्रति प्रतिरक्षीकरण किया जा सकता है। प्रतिरक्षीकरण उस समय भी किया जा सकता है जब रोग के वाहक से सम्पर्क हो रहा हो।

प्लेग (ताऊन)

भारत में प्लेग सन् 1895 में हांगकांग से आने वाले जहाजों द्वारा लाया गया। भारत में सभी को प्लेग के संचरण और नियंत्रण की विस्तृत जानकारी होनी चाहिए। प्लेग का जीवाणु (बैक्टीरिया) पिस्सुओं पर परजीवी के रूप में रहता है जो कि चूहों, मूषकों, और अन्य कृन्तकों (रोडेन्ट) पर रहता है। खून चूसने वाले पिस्सू एक चूहे से दूसरे चूहे में रोग का संचरण करते हैं। मानव में रोग पिस्सू के काटने या दंश से या संक्रमित चूहों के आकस्मिक संपर्क से फैलता है।

प्लेग के उपचार में सल्फा औषधियों और स्ट्रेप्टोमाइसिन का इस्तेमाल किया जाता है। प्लेग के नियंत्रण

उपायों में अब परिवर्तन हो गया है क्योंकि अब व्यक्ति को टीका न लगाकर जहाजों को चूहारोधी बनाया जाता है और चूहों व पिस्सुओं का नाश किया जाता है। आज के अधिकांश पानी के जहाज अब चूहारोधी होते हैं।

विश्व स्वास्थ्य संगठन (डब्ल्यू० एच० ओ०) ने मत व्यक्त किया है कि प्लेग का टीका व्यक्ति के लिए लाभदायक हो सकता है लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय संगरोध व्यवहार (क्वारन्टाइन प्रैक्टिस) में इसको स्थान नहीं दिया गया है। आजकल प्लेग के टीकों की सिफारिश केवल रोग की महामारी के दौरान ही की जाती है।

विषाणुओं (वाइरस) द्वारा होने वाले रोग

विषाणुओं द्वारा होने वाले कुछ महत्वपूर्ण रोगों का वर्णन नीचे किया जाता है :

छोटी माता या चेचक (चिकन पॉक्स)

छोटी माता एक विषाणु (वाइरस) द्वारा होती है और यह रोग एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में सीधे ही या संक्रमित व्यक्ति द्वारा विसर्जित पदार्थ से दूषित कपड़ों या अन्य वस्तुओं के सम्पर्क से संचरित होता है। दाने या लाली दिखाई देने के दो दिन पहले से लेकर बाद में 14 दिन तक संक्रमित व्यक्ति छोटी माता का संचरण कर सकता है। छोटी माता के एक बार के आक्रमण से सामान्यतया रोग के प्रति स्थायी प्रतिरक्षा हो जाती है।

सबसे पहले त्वचा के उद्गार या दाने प्रकट होते हैं। लेकिन यह उद्गार एक साथ ही प्रकट नहीं होता बल्कि चरणवार या अलग-अलग अवस्थाओं में होता है। रोग की अवधि और उग्रता इस प्रकट होने वाले उद्गार पर निर्भर करती है। उग्र अवस्था में लगभग सारा शरीर ही दानों से भर सकता है। इसकी रोकथाम का उपाय यही है कि रोगी को बिल्कुल पृथक रखा जाय। जब तक सारी पपड़ी गिर नहीं जाती तब तक उसे सभी सार्वजनिक स्थानों से अलग रखा जाय। उद्गार या दानों पर कैलामाइन लोशन लगाया जा सकता है। रोगी को, उसके बिस्तर को और कपड़ों को बिल्कुल स्वच्छ रखा जाना चाहिए।

खसरा (मीजल्स)

खसरा (मीजल्स) या रूबिओला की विशेषता है कि इसमें ज्वर, श्वसन पथ की श्लेष्मल झिल्ली (म्यूकस मेम्ब्रेन) का शोथ (इनफ्लैमेशन), प्रकाश के प्रति आँखों की संवेदनशीलता, भूख की कमी, कै, और त्वचा में उद्गार या दाने (रैश) होते हैं। व्यक्ति को खसरा हो जाने पर रोग का आक्रमण लगभग दस से बारह दिन तक चलता है।

इसका एक निरोधी उपाय है—गामा ग्लोबुलिन का टीका। इस पदार्थ से मंद प्रतिरक्षा स्थापित हो जाती है जो करीब तीन हफ्ते तक चलती है। अधिकांशतया छह महीने से कम उम्र वाले शिशुओं को गामा ग्लोबुलिन की आवश्यकता नहीं होती यदि माताओं को खसरा हुआ रहता है क्योंकि बच्चा माता से कुछ मंद प्रतिरक्षा अर्जित कर लेता है।

पोलियो-मेरुरज्जुशोथ (पोलियो माइलिटिस)

पोलियो-मेरुरज्जुशोथ शरीर का एक सामान्य रोग है जो विषाणु या वाइरस द्वारा होता है। व्यक्ति जब इस रोग से पीड़ित होता है तो तंत्रिकातंत्र (नर्वस सिस्टम) के विभिन्न भागों का शोथ (इनफ्लैमेशन) हो जाता है। मेरुरज्जु (स्पाइनल कॉर्ड) की बड़ी प्रेरक (मोटर) कोशिकाएँ इससे क्षति के प्रति अधिक सुग्राही होती हैं। ऐच्छिक पेशियों (वॉलन्टरी मसल) का अंगघात या फालिज हो जाता है। कुछ वर्ष पहले तक पोलियो-मेरुरज्जुशोथ को केवल शिशु अवस्था और बाल्यावस्था का ही रोग समझा जाता था। इस कारण इसे शैशव अंगघात कहा जाता था। लेकिन अब पता चला है कि यह रोग किसी भी अवस्था में हो सकता है।

आधुनिक खोजों के आधार पर प्रमाण मिले हैं कि पोलियो-मेरुरज्जुशोथ मुख्य रूप से आंत्र द्वारा विसर्जित पदार्थों से होता है। लेकिन यह संदूषित भोजन या पेय और मक्खियों अथवा अन्य कीटों के द्वारा भी फैल सकता है जो कि भोजन या पेय को संदूषित करते हैं।

पोलियो-मेरुरज्जुशोथ के चिह्न और लक्षण रोग की उग्रता पर निर्भर करते हैं। कम उग्र अवस्था में बीमारी एक से लेकर कई दिन तक चलती है। लेकिन अधिक उग्र या अंगघात प्रकार की अवस्था में बीमारी लम्बे समय तक चलती है और ज्वर बहुत अधिक दिनों तक चलता रहता है। केन्द्रीय तंत्रिका-तंत्र पर प्रभाव पड़ने का आरम्भिक लक्षण है आपेक्षिक रूप से सिर को

आगे की ओर न मोड़ पाना। गर्दन का अकड़ जाना भी महत्वपूर्ण लक्षण है। अंगघात या फालिज विशेष पेशियों की दुर्बलता के रूप में शुरू होता है। दो से तीन दिन के अन्दर यह अंगघात अपनी चरम पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है। अधिकांशतया पहले अंगघात नहीं होता। यदि यह होता है तो ठीक होने की काफी अधिक संभावना रहती है।

पोलियो-मेरुरज्जुशोथ की वैक्सीन अब निरापद और प्रभावकारी साबित हो गई है। आजकल पोलियो मेरुरज्जुशोथ, डिप्थीरिया, टिटेनस और कुकुर खाँसी के प्रति सुरक्षा के लिए अनेक प्रभाव वाली वैक्सीन का प्रयोग किया जाता है।

अलर्क या रैबीज

यह एक विषाणु या वाइरस रोग है जो मानव में रैबिड प्राणियों विशेषकर कुत्तों, के काटने से संचरित होता है। इसकी ऊष्मायन अवधि (इन्क्यूबेशन पीरियड) 10 दिन से लेकर कई महीने होती है।

इसके लक्षण हैं तेज सिरदर्द और तेज बुखार जिसमें उत्तेजना और निराशा की एकान्तर (आल्टर्नेट) अवस्थाएँ होती हैं। रोगी को द्रव को निगलने तक में कठिनाई होती है। गले व छाती में तीव्र पेशीय ऐंठन होती है। अंगघात और ऐंठन के बाद रोगी बड़ी दर्दनाक मौत से मरते हैं। रैबीज या अलर्क को 'हाइड्रोफोबिया' या 'जलभीति' भी कहते हैं।

यह रोग एक आदमी से दूसरे आदमी में संचरित नहीं होता और केवल रैबिड या रैबीज वाले कुत्तों के काटने से संचरित होता है। प्रमुख नियंत्रण उपाय है कुत्तों का अनिवार्य प्रतिरक्षीकरण।

रैबीज (अलर्क) के उपचार की खोज सर्वप्रथम लुई पास्तेर ने की थी और इसलिए इसे **पास्तेर उपचार** कहते हैं। इसमें 14 दिन तक रोज क्रम से एक इंजेक्शन दिया जाता है। यह इंजेक्शन "स्थिरीकृत वाइरस" (फिक्स्ड वाइरस) से तैयार किया जाता है। यह प्रतिरक्षी (ऐन्टिबौडी) के निर्माण को उत्प्रेरित करता है। कोई भी व्यक्ति जो आवारा कुत्ते के द्वारा काटा जाता है उसे निरोधी उपाय के रूप में यह उपचार करा लेना चाहिए।

आदि जन्तुओं या प्रोटोज़ोआ द्वारा उत्पन्न होने वाले रोग

प्रोटोज़ोआ द्वारा कई रोग होते हैं और इनमें सबसे आम रोग हैं मलेरिया और अमीबता या अमीबिऐसिस।

अमीबता (अमीबिऐसिस)

प्रोटोज़ोआ के कई जन्तु आंत्र-रोग उत्पन्न करते हैं जो संदूषित भोजन व पेयों के द्वारा संचरित होते हैं। इनमें से सबसे अधिक महत्वपूर्ण अमीबी पेचिश है क्योंकि यह बहुतायत से होती है। उग्र संक्रमण में ऊष्मायन या इन्क्यूबेशन अवधि पाँच दिन और चिरकारी (क्रोनिक) अवस्था में यह कई महीनों की होती है।

इसके लक्षणों में मुख्य हैं दस्त (डायरिया) और एकान्तर रूप से कब्ज का होना। उग्र अवस्था में पेचिश और विष्टा के साथ श्लेष्मा (म्यूकस) तथा खून आता है। यकृत या कलेजे और फेफड़ों में विद्रधि (ऐब्सेस) उत्पन्न हो सकते हैं।

कारणात्मक या रोगकारी जीव एन्टअमीबा हिस्टोलिटिका है (चित्र 35.1)। इसका संक्रमण सिस्टों
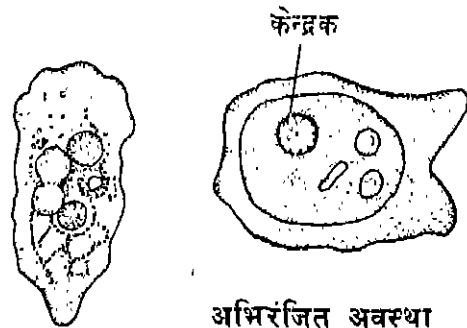
चित्र 35.1 : एन्टअमीबा हिस्टोलिटिका।

(पुटियों) द्वारा होता है जो संक्रमित विष्टा वाले व्यक्तियों की विष्टा में होती हैं। संदूषित कच्ची सब्जियाँ, फल और अन्य भोजन पदार्थ तथा संदूषित जल रोग का संचरण करते हैं। विष्टा या मल पदार्थ के उचित निपटान,
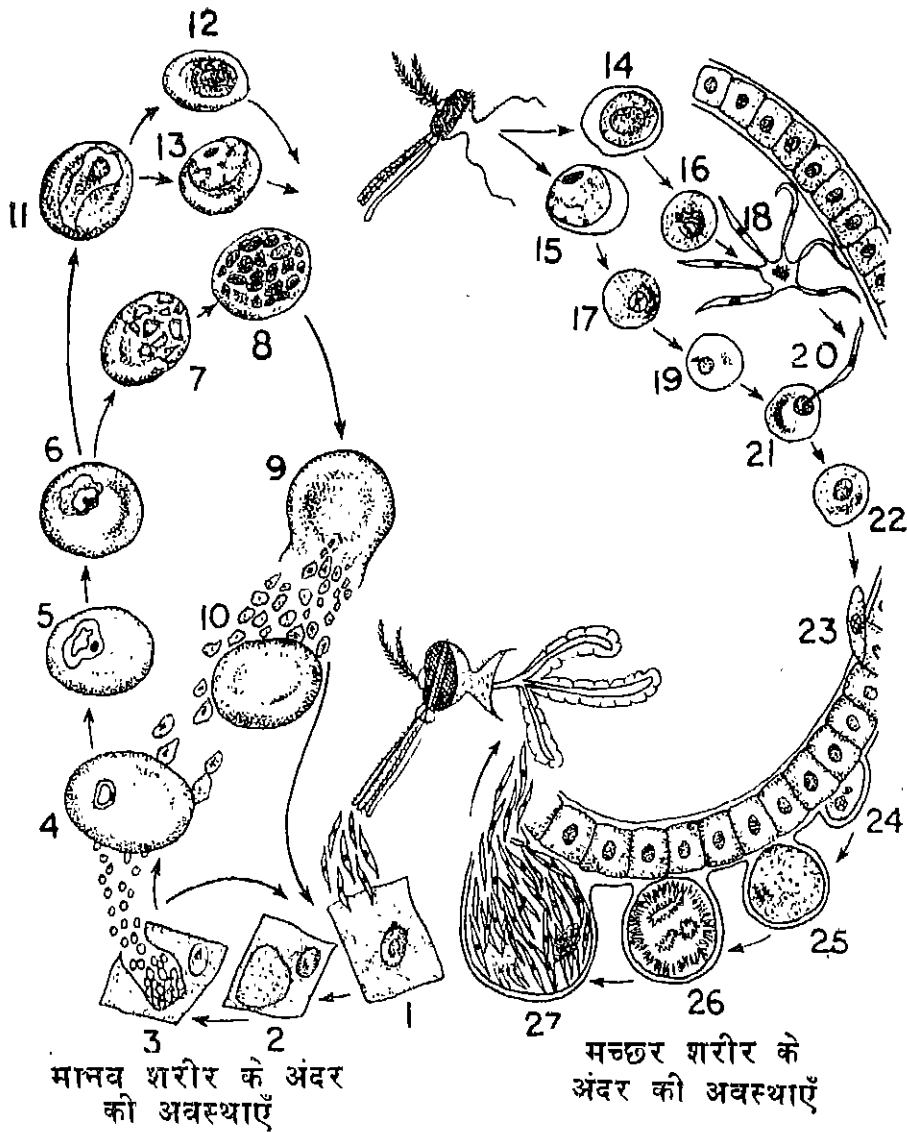
चित्र 35.2 : मलेरिया परजीवी (प्लैज्मोडियम वाइवैक्स) का जीवन चक्र। 1-13 : मानव के शरीर के अन्दर की अवस्थाएँ। 1-3 में दिखाया गया है कि यकृत कोशिका में परजीवी कैसे वृद्धि करता है, 4-10 में लाल रुधिर कणिका में जीवन-चक्र दिखलाया गया है। परजीवी लाल रुधिर कणिका में गुणित होता है, उसे तोड़ता है और नई ला० रु० क० पर आक्रमण करता है। 11-13 में लैंगिक रूप वाली अवस्था में मलेरिया-परजीवी की वृद्धि दिखलाई गई है। चूसने के दौरान लैंगिक अवस्था में परजीवी मच्छर के अन्दर पहुँच जाता है। 14.27 : मच्छर के अन्दर की अवस्थाएँ। 14-19 में नर और स्त्री युग्मकों (गैमीट) का परिवर्धन दिखलाया गया है। 20-22 : नर और स्त्री युग्मकों का संलयन या सम्मिलन तथा युग्मनज (जाइगोट) का बनना, 23 : मच्छर की आहार-नाल में चलयुग्मनज (ऊकिनेट) का प्रवेश, 24-27 : बीजाणुज (स्पोरोजोआइट) में चलयुग्मनज की वृद्धि। बीजाणुज मानव के शरीर में मच्छर के काटने से पहुँचते हैं।

। की सुरक्षा और वातावरणी स्वच्छता से रोग का बचाव किया जा सकता है ।

इस रोग के प्रतिरक्षीकरण की कोई भी विधि नहीं है ।

मलेरिया

मलेरिया मानव का सबसे पुराना और सबसे अधिक विनाशी रोग है। पहले अनूप (स्वैम्प) और कच्छ (मार्श) की गंदी वायु को इस रोग का कारण समझा जाता था इसीलिए इस रोग का नाम मलेरिया पड़ा। अभी भी यह दुनिया की सबसे गंभीर स्वास्थ्य समस्या बना हुआ है, विशेषकर ऊष्णकटिबंधी प्रदेशों की।

रोगकारी जीव प्लैज्मोडियम वंश (जीनस) का एक-कोशीय जीव है। रोग की ऊष्मायन अवधि प्लैज्मोडियम की विभिन्न जातियों के अनुसार भिन्न-भिन्न होती है। **पै० फैल्सीपैरम** में ऊष्मायन अवधि करीब 12 दिन, **पै० वाइवैक्स** में 13-15 दिन और **पै० मलेरियाई** में 28-30 दिन की होती है। रोग का संचरण एक आदमी से दूसरे आदमी में मादा **एनोफेलीज** मच्छर के द्वारा होता है।

मलेरिया-परजीवी का जीवन-चक्र बहुत अधिक जटिल है। चित्र 35.2 में इसके सम्पूर्ण जीवन-चक्र को दो परपोषियों — मानव और मच्छर में दिखलाया गया है। मच्छर को मध्यस्थ या मध्यवर्ती (इण्टरमीडिएट) परपोषी कहा जाता है (कीट रोगवाहक)। बहुत अधिक समय तक मलेरिया का होना मच्छर से जोड़ा जाता था। सन् 1880 में लैवर्न ने सर्वप्रथम मलेरिया के पीड़ित रोगी की लाल रुधिर कोशिकाओं में प्लैज्मोडियम का निरीक्षण किया। लेकिन मलेरिया परजीवी के जटिल जीवन-चक्र का पता लगाने का श्रेय सर रोनाल्ड रौस को है। उन्हें सन् 1902 में इस कार्य के लिए नोबल पुरस्कार दिया गया था।

अपने जीवन चक्र की जटिलता के कारण ही मलेरिया स्वास्थ्य सम्बन्धी गंभीर समस्या है।

इस रोग के लक्षणों की विशेषता है कंपकंपी वाले जाड़े के साथ तेजी से शरीर के तापमान में वृद्धि और सिरदर्द तथा मतली। बहुत अधिक पसीना होने के बाद बुखार उतर जाता है। ज्वर, जाड़े और पसीने की पुनरावृत्ति होती रहती है। तेज जाड़े व कंपकंपी तथा ज्वर के दौरान स्लाइड पर रुधिर के आलेप (स्मीयर) के सूक्ष्म निरीक्षण से रोग की सही पहचान हो जाती है। पूरे और ठीक उपचार की प्रभावकारी औषधियाँ हैं क्लोरोक्विन और प्राइमाक्विन।

मलेरिया का प्रतिरक्षीकरण नहीं होता। बचाव और नियंत्रण उपाय यही है कि कीट रोगवाहक (वेक्टर) यानी मच्छर का उन्मूलन किया जाय। दीवारों पर डी डी टी का छिड़काव और तालावों, पोखरों, गलियों में तेल की परत के छिड़काव से मच्छरों के प्रजनन पर रोक लग जाती है। विश्व स्वास्थ्य संगठन (वर्ल्ड हैल्थ आर्गनाइजेशन — डब्ल्यू० एच० ओ०) के सहयोग से राष्ट्रीय मलेरिया उन्मूलन कार्यक्रम के अन्तर्गत हमारे देश में मलेरिया का नियंत्रण किया जा रहा है। पिछले कुछ सालों के दौरान मलेरिया काफी कम हो गया था लेकिन अब यह फिर उभरने लगा है। इस खतरनाक और हानिकारक रोग के नियंत्रण के लिए लोगों को चाहिए कि वे इन संस्थाओं या एजेन्सियों के साथ सहयोग करें।

कृमियों (हेलिमथ) द्वारा उत्पन्न होने वाले रोग

फाइलेरिया

फाइलेरिया के कृमि (वर्म) मानव पर आक्रमण करने वाले परजीवियों में बहुत महत्वपूर्ण हैं। फाइलेरियता (फाइलेरिएसिस) शब्द का अर्थ है फाइलेरिया कृमियों द्वारा होने वाला संक्रमण। फाइलेरिया-कृमियों की कुछ जातियों के बार-बार संक्रमण से शरीर के कुछ भागों की काफी अधिक वृद्धि हो जाती है। उदाहरण के लिए, टाँगें ऐसी हो जाती हैं मानो वे हाथी की टाँगें हों और इसी कारण इस दशा को श्लीपद या फीलपाव (एलीफेन्टिएसिस) कहा जाता है।

इस को पैदा करने वाले कृमि का नाम है **वूकेरेरिया बैंक्रोफ्टी**। इन परजीवियों से संक्रमित मच्छर जब किसी आदमी को काटता है तो कृमि त्वचा के नीचे जमा होकर फिर लसीका-तंत्र (लिम्फेटिक सिस्टम) में पहुँच जाते हैं, जहाँ वे प्रौढ़ों में परिवर्धित हो जाते हैं। लसीका तंत्र में

रहते हुए प्रौढ़ मादाएँ भारी संख्या में छोटे छोटे डिम्भक (लार्वा) उत्पन्न करती हैं जिन्हें माइक्रोफाइलेरिया कहते हैं और जो रुधिर में इधर-उधर ले जाए जाते हैं। जब मच्छर की सही जाति इस अवस्था में अपने भोजन के रूप में खून चूसती है तो इनमें से कुछ डिम्भक भी उसके द्वारा चूस लिए जाते हैं, जो करीब दो हफ्ते में परिवर्धित होकर मानव को संक्रमित करने वाले परजीवी रूप में हो जाते हैं। ये मच्छर के मुखांगों (माउथ पार्ट्स) में रेंग कर पहुँच जाते हैं और फिर मच्छर के काटने पर मानव-परपोषी की त्वचा में पहुँच जाते हैं। त्वचा या चमड़ी को बेधने के
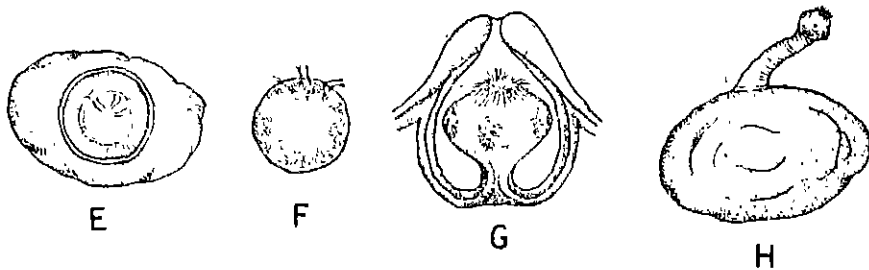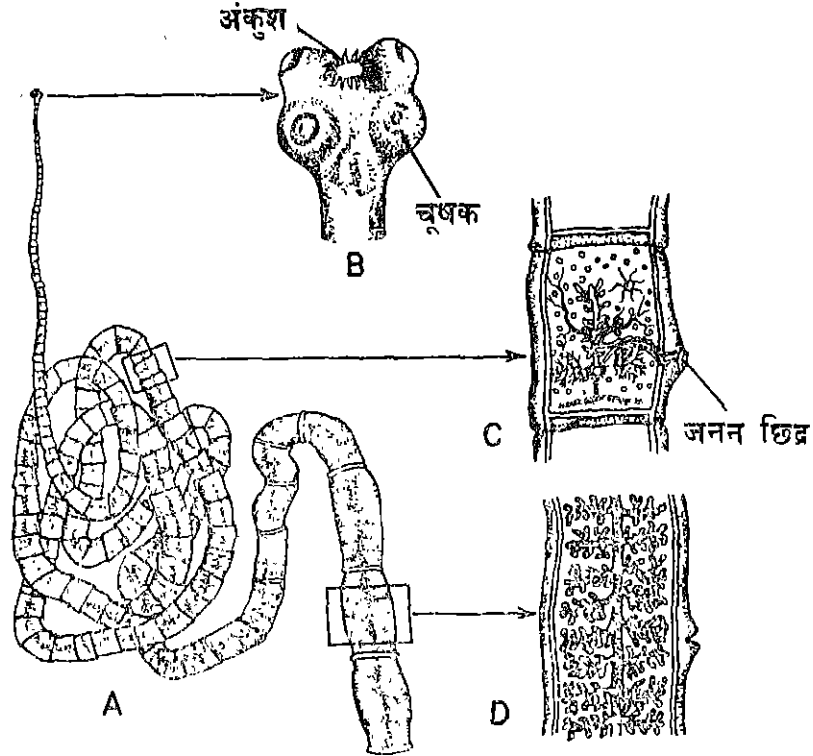
चित्र 35.3 : A : टीनिया सोलियम (बाहरी आकार) । B : सिर के क्षेत्र का आवर्धित दृश्य । C : लैंगिक दृष्टि से परिपक्व देहखंड । D : अंडों से भरा (ग्रेविड) देहखंड । E, F : गोलांकुण अवस्था । G : ब्लैडरवर्म अवस्था । H : सद्यःजात ब्लैडरवर्म ।

बाद में लसीका पर्वों (लिम्फ नोड) में पहुँचकर वहीं परिपक्व होते हैं।

शरीर की विरूपता (डीफार्मिटी), लगता है, सालों साल इसके द्वारा बार-बार संक्रमण होने से ही होती है। ये कृमि लसीका-वाहिकाओं का प्राथमिक संकीर्णन या संकुचन (कन्स्ट्रिक्शन) कर देते हैं जिससे कुछ शोथ या सूजन भी होती है। इसके कारण क्षेत्र में प्रोटीन बहुत अधिक माला में पहुँचने लगते हैं जिससे संयोजी ऊतक (कनेक्टिव टिश्यू) की बहुत अधिक वृद्धि हो जाती है।

लसीका-पर्वों पर प्रौढ़ कृमियों के पाये जाने पर या रुधिर में माइक्रोफाइलेरियाओं (सूत्राभों) की खोज करने पर धनात्मक निदान (डायग्नोसिस) किया जा सकता है। सामान्य फाइलेरियता (फाइलेरिएसिस) में कभी भी औषधीय चिकित्सा की आवश्यकता नहीं होती। रोग को फैलने से रोकने में जो दो औषधियाँ सहायता देती हैं वे हैं हैट्राजन और एम०एस०ई०। हैट्राजन रुधिर में माइक्रोफाइलेरियाओं का नाश करता है और एम०एस०ई० नामक यौगिक प्रौढ़ कृमियों का। परपोषी मच्छर का उन्मूलन भी बहुत महत्वपूर्ण है।

फीता कृमि (टेप वर्म)

फीता कृमि नाम इसलिए पड़ा है कि यह कृमि लम्बे फीते की तरह दिखलाई देता है।

सामान्य फीता कृमि का वैज्ञानिक नाम **टीनिया सोलियम** है (चित्र 35.3)। यह मानव की आँत्र में अंतः परजीवी (एन्डोपैरासाइट) के रूप में रहता है। फीते का एक सिरा बहुत बारीक या कम चौड़ा होता है जिसमें कृमि का **सिर** होता है। सिर में प्याले की आकृति के चार **चूषक** (सकर) और मुड़े हुए **अंकुशों** (हुक) की एक पंक्ति होती है। ये अंकुश और चूषक मानव की आँत्र-भित्ति (दीवार) से चिपकने वाले अंगों के रूप में इस्तेमाल किए जाते हैं। शरीर धीरे-धीरे पश्च (पोस्टीरियर) या पिछले सिरे की ओर चौड़ा होता जाता है और मुख्य भाग रिब्बन जैसा और खंडयुक्त (सेगमेन्टेड) होता है। सिर के एकदम बाद वाला भाग ग्रीवा या गर्दन कहलाता है जिसमें पश्च खंडों के निर्माण के लिए अलैंगिक प्रकार से अन्धाधुन्ध विभाजन (प्रोलिफेरेशन) होता है। इन पश्च खंडों में से प्रत्येक देहखंड या प्रोग्लॉटिड कहलाता है। एक पूर्ण परिवर्धित कृमि में देहखंडों की संख्या 800 से 900 तक होती है।

प्रत्येक देहखंड में नर और स्त्री जनन-अंग होते हैं। इस प्रकार टीनिया उभयलिंगी (हर्माफ्रोडाइट) जंतु है। इसमें स्व-निषेचन होता है अर्थात् अंडों का निषेचन उसी कृमि के शुक्राणुओं द्वारा होता है। निषेचित अंड स्त्री जनन-मार्ग में छह अंकुशों वाले भ्रूण (एम्ब्रियो) में परिवर्धित होकर एक मोटे कवच या खोल से ढक जाता है। इस अवस्था को गोलांकुश (औन्कोस्फियर) कहते हैं। अब इस अवस्था में इस गोलांकुश का यदि दूसरे परपोषी के शरीर में स्थानान्तरण नहीं होता तो इसका और आगे परिवर्धन नहीं होता। **टीनिया सोलियम** का दूसरा परपोषी सूअर है।

गोलांकुशों (औन्कोस्फियर) से भरा देहखंड कृमि के शरीर से अलग होकर विष्टा के साथ बाहर आ जाता है। फिर देहखंड टूट जाता है और गोलांकुश आस-पास बिखर जाते हैं। जब इनको सूअर की आहार-नाल में प्रवेश करने का मौका मिलता है तो इनकी मोटी भित्ति घुल जाती है। इस अवस्था में **षडंकुश (हेक्साकेंथ)** कहलाने वाला भ्रूण आहार-नली की दीवार को अपने अंकुशों से वेधकर रुधिर प्रवाह में पहुँच जाता है। अंततः यह सूअर की पेशियों में आ जाता है और पुटी वाला बन जाता है। इस पुटी या छोटी थैली जैसी रचना के अन्दर ही भ्रूण परिवर्धित होता है। इस अवस्था को ब्लैडरवर्म कहते हैं। इस ब्लैडरवर्म का परिवर्धन तब तक नहीं होता जब तक कि यह मानव के शरीर में स्थानान्तरित नहीं हो जाता। यह स्थानान्तरण तभी सम्भव है जब मानव अधूरे प्रकार से पकाया गया सूअर का गोश्त खाता है। मानव की आहार-नली में ब्लैडरवर्म सिर वाले अंश के साथ एक छोटे कृमि के रूप में निकलता है। यह आंत्र भित्ति से चिपक जाता है और फिर अलैंगिक प्रकार से पूरी लम्बाई वाले फीता-कृमि में परिवर्धित हो जाता है। इस प्रकार **टीनिया सोलियम** के दो परपोषी हैं— प्राथमिक परपोषी के रूप में मानव और द्वितीयक परपोषी के रूप में सूअर।

फीता कृमि के संक्रमण का तुरन्त यह असर होता है कि जठरीय गड़बड़ियाँ या पेट की गड़बड़ियाँ और

अरक्तता (ऐनीमिया) यानी खून की कमी हो जाती है। उग्र प्रकार के प्रभाव का परिणाम होता है आंत्र-अधिधारण (ऑक्लूजन) या अवरोध। इसके लिए कई कृमिनाशी औषधियाँ उपलब्ध हैं, संक्रमण होने पर जिन्हें डाक्टर की सलाह से ही इस्तेमाल किया जाना चाहिए।

गोल कृमि (राउन्ड वर्म)

मानव में पाये जाने वाले **गोल कृमि** को **ऐस्केरिस लम्ब्रिकॉइडीज** (चित्र 35.4) कहते हैं। यह अंतः
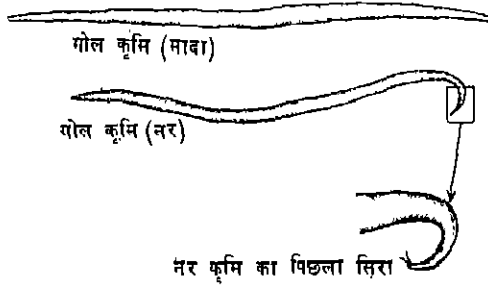
चित्र 35.4 : गोल कृमि (ऐस्केरिस)।

परजीवी है अर्थात परपोषी के शरीर के अन्दर रहता है और क्षुद्रांत्र या छोटी आँत (स्माल इन्टेस्टाइन) का संक्रमण करता है। जीवित अवस्था में गोल कृमि हल्का लाल पीला होता है लेकिन मृत अवस्था में दूधिया सफेद दिखता है। तीन ओष्ठों द्वारा घिरा मुँह अग्र (एन्टीरियर) या अगले भाग के अंतिम सिरे पर होता है। आहार-नाल का बाहर की ओर खुलने वाला द्वार गुदा (ऐनस) कहलाता है, जो पश्च सिरे पर स्थित होता है। इसमें नर और मादा अलग-अलग होते हैं अर्थात उभय-लिंगी नहीं। बाहर से निरीक्षण करने पर नर और मादा कृमियों को आसानी से अलग-अलग पहचाना जा सकता है। नर कृमियों में शरीर का गुदा के बाद वाला भाग नीचे की ओर एकदम काफी अधिक मुड़ा हुआ होता है लेकिन मादा कृमियों में यह बिल्कुल सीधा होता है। मादाएँ नर से बड़ी होती हैं और उनमें जनन-छिद्र पृथक होते हैं। नर में जनन-छिद्र पृथक नहीं होता, और आहार नाल के बाहर की ओर खुलने वाला द्वार ही जनन-छिद्र का भी कार्य करता है।

अंडों का निषेचन मादा के शरीर के अन्दर होता है और रोज करीब 20,000 अंड मुक्त किए जाते हैं। ये अंडे तो परपोषी के शरीर से विष्टा के साथ बाहर आ जाते हैं, लेकिन कृमि आँत में ही रहते हैं। प्रत्येक निषेचित अंड काइटिनमय कवच या खोल (शैल) से ढका होता है और भ्रूण का परिवर्धन करीब दो हफ्ते में पूरा होता है। ये अंड नए परपोषी के शरीर में भोजन और पेय पदार्थों के साथ पहुँच जाते हैं। नए परपोषी की आँत में पहुँचने के बाद ही अंडे फूटते हैं। आँत्र से डिम्भक विभिन्न अंगों में, जैसे यकृत, हृदय और फेफड़ों में, पहुँच जाते हैं। उनकी इस यात्रा के दौरान डिम्भक (लार्वा) प्रौढ़ बन जाते हैं और ये प्रौढ़ अंत में फिर आँत्र में पहुँचकर वहीं जम जाते हैं।

गोलकृमि के संक्रमण से आँत्र का अवरोध, यूस्टेकी नली (यूस्टेकियन ट्यूब) का अवरोध, ऊहुकपुच्छशोथ (अपेन्डिसाइटिस) और पर्युदर्याशोथ (पेरीटोनाइटिस) के रोग हो जाते हैं।

अभ्यास

1. संचरणीय (कम्युनिकेबल) और असंचरणीय (नौन-कम्युनिकेबल) रोगों का अंतर स्पष्ट करो।
2. संचरणीय रोगों से लड़ने के लिये महत्वपूर्ण उपाय क्या हैं?

3. संचरणीय रोगों को समझने और उनके नियंत्रण में परजीवीविज्ञान (पैरासिटोलॉजी); महामारी विज्ञान (एपीडीमियोलॉजी) और प्रतिरक्षा विज्ञान (इम्यूनोलॉजी) ने किस प्रकार सहायता पहुँचाई है ?
4. संक्रमण को कौन से कारक प्रभावित करते हैं ?
5. निम्नलिखित रोगों के चिह्न और लक्षण बतलाओ। इन रोगों के बचाव और नियंत्रण के लिये कौन-कौन से सामुदायिक स्वास्थ्य उपाय अपनाए गए हैं ?
   (क) हैजा (कॉलरा)।
   (ख) मलेरिया।
   (ग) यक्ष्मा (ट्यूबरकुलेसिस)।

अध्याय-36

सामुदायिक स्वास्थ्य

सामुदायिक स्वास्थ्य की परिभाषा इस प्रकार होगी—**'वे सभी क्रियाकलाप जो किसी समुदाय के स्वास्थ्य के सुधार में योग देते हैं।'**

अच्छा स्वास्थ्य बनाए रखने के लिए सामुदायिक स्वास्थ्य सेवाओं के अन्तर्गत कई क्रियाकलाप होते हैं, जो इस प्रकार हैं—(i) पीने के पानी की आपूर्ति तथा वाहित मल के निपटान द्वारा वातावरण की स्वच्छता बनाए रखना, (ii) संचरणीय रोगों की रोकथाम और नियंत्रण के लिए सुविधा प्रदान करना, जैसे टीका अभियान चलाना व रोगियों को पृथक कर उपचार करना, (iii) मातृ तथा शिशु स्वास्थ्य सेवाएँ प्रदान करना, (iv) स्कूल स्वास्थ्य शिक्षा, सामुदायिक स्वास्थ्य शिक्षा, पोषण शिक्षा और परिवार कल्याण की सुविधा देना।

सारणी 36.1 में स्वास्थ्य केन्द्रों द्वारा दी जाने वाली आधारभूत स्वास्थ्य सेवाएँ दी गई हैं। यद्यपि गाँवों और शहरों के स्वास्थ्य संगठन भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं लेकिन दी जाने वाली आधारभूत सेवाएँ समान हैं।

इन सेवाओं के अतिरिक्त मलेरिया उन्मूलन तथा परिवार कल्याण नियोजन सरीखे राष्ट्रीय कार्यक्रम सरकारी कर्मचारियों और सरकारी पैसे की सहायता से चलते हैं।

संचरणीय रोगों के सामान्य निरोधी उपाय

बहुत पुरानी कहावत है कि रोग के इलाज से बेहतर है उससे बचे रहना। संचरणीय रोगों के नियंत्रण के लिए पर्याप्त निरोधी उपाय करना जरूरी है। संचरणीय रोगों से पीड़ित व्यक्ति को चाहिए कि वह इस तरह से सावधानी बरते कि व्यक्ति से रोग समुदाय में न फैल सके। ऐसे रोगियों को पृथक करना और लोगों को रोग के प्रति सावधान करके तदनुसार उपाय करने की शिक्षा देना जरूरी है। इनमें से कुछ उपाय नीचे दिए गए हैं:

टीका—आजकल कई संचरणीय रोगों के टीके उपलब्ध हैं, जैसे कि चेचक, हैजा, टायफायड और यक्ष्मा के। संचरणीय रोगों को फैलने से रोकने के लिए प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है कि वह टीका लगवा ले। इस संदर्भ में हर एक का यह कर्त्तव्य होना चाहिए कि वह सामुदायिक स्वास्थ्य कार्यकर्त्ताओं को पूरा सहयोग दे।

स्वच्छता—संचरणीय रोगों से लड़ने के लिए जरूरी है कि स्रोत पर ध्यान दिया जाय। अस्वच्छ या गन्दे पास-पड़ोस से ही रोग पनपते हैं। पीने को प्रदूषित (पौल्यूटेड) और संदूषित (कन्टैमिनेटेड) पानी, मक्खियों और मच्छर के प्रजनन को बढ़ावा देने वाला इधर-उधर फेंका हुआ कूड़े-कचरे का ढेर तथा धूल और मक्खियों के लिए खुला छूटा हुआ भोजन आदि ऐसे मुख्य स्रोत हैं जहाँ रोगकारी जीव शरण लेकर पनपते हैं। वातावरण की स्वच्छता बनाए रखने के लिए स्वच्छता सम्बन्धी कार्यकर्त्ताओं की मदद की जाती रहनी चाहिए जिससे रोगों का प्रसार रुका रहेगा।

सारणी 36.1

स्वास्थ्य केन्द्रों द्वारा दी जाने वाली आधारभूत स्वास्थ्य सेवाएँ

चिकित्सा-सेवा	स्वास्थ्य शिक्षा	जन्म-मरण के आँकड़े
1. उपचार करना तथा रोगी व्यक्तियों को अस्पताल में रखना 2. रोगी विशिष्ट अस्पतालों में भेजे जाते हैं	1. व्यक्तिगत सम्पर्क 2. छपी सामग्री 3. दृश्य-श्रव्य सहायक उपकरण	1. एकत्रीकरण 2. क्रॉस-जाँच

वातावरणी स्वच्छता	संचरणीय रोगों की रोकथाम व नियंत्रण	मातृ तथा शिशु सेवा तथा परिवार नियोजन	स्कूल स्वास्थ्य सेवाएँ
1. स्वच्छ जल की आपूर्ति । 2. मल पदार्थ का निपटान—कम्पोस्ट गड्ढों, सोक पिटों, आँगन बाड़ियों (किचन गार्डन), शौचालयों, धुआँ रहित चूल्हों द्वारा । 3. कीटों के प्रजनन-स्थलों से बचाव । 4. वायु प्रदूषण से बचाव ।	1. चेचक के टीके सामूहिक रूप से; हैजा के टीके व अन्य टीके । 2. मलेरिया का उन्मूलन 3. कुष्ठ रोग, ट्रैकोमा तथा अन्य संचरणीय रोगों का नियंत्रण । 4. खाद्य और दुग्ध व्यवसायों का पर्यवेक्षण ।	1 गर्भिणी माताओं का नेमी या दैनिक परीक्षण । 2. शिशु सेवा—जन्म के समय तथा जन्म के बाद । 3. मुआयना—प्रतिरक्षीकरण । 4. अरक्तता (ऐनीमिया) तथा विटामिन की कमी के प्रति निरोधी उपाय । 5. परिवार-नियोजन सम्बन्धी सलाह तथा सेवाएँ ।	1. स्वास्थ्य निरीक्षण, उपचार तथा तत्सम्बन्धी चिकित्सा । 2. प्रतिरक्षीकरण (इम्यूनाइजेशन) । 3. शिक्षक द्वारा निरीक्षण । 4. स्कूल की स्वच्छता । 5. स्कूल में लंच या बीच की छुट्टी का आहार । 6. स्वास्थ्य शिक्षण ।

रोगाणुनाशन या निर्जर्मीकरण (स्टेरिलाइजेशन)

संचरणीय रोगों के लिए जिम्मेदार अधिकांश जीवाणु (बैक्टीरिया) और जीव, ताप के प्रति सुग्राही या संवेदनशील होते हैं। इसलिए रोगियों की रोज काम आने वाली चीजों का निर्जर्मीकरण अनिवार्य है। फेनिल, डेटोल सरीखे रोगाणुनाशियों (डिसइन्फेक्टेन्ट) का इस्तेमाल कर रोगाणुओं का नाश किया जाना चाहिए। संक्रमण से बचे रहने के लिए पूतिरोधी (ऐन्टिसेप्टिक) उपाय किए जाने चाहिए। विशेष रूप से संचरणीय रोग से पीड़ित व्यक्ति की देखरेख करने वाले व्यक्ति के सन्दर्भ में।

अभ्यास

1. सामुदायिक स्वास्थ्य (कम्यूनिटी हैल्थ) की परिभाषा दो।
2. समुदाय विशेष का स्वास्थ्य बनाए रखने के लिए कौन-सी एजेन्सियाँ जिम्मेदार हैं? सामुदायिक स्वास्थ्य कार्यक्रम द्वारा किए जाने वाले विविध क्रियाकलापों का वर्णन करो।

अध्याय-37

असंचरणीय रोग

इस प्रकार के रोग केवल उन्हीं व्यक्तियों तक सीमित रहते हैं जो इनसे पीड़ित होते हैं। ये एक आदमी से दूसरे आदमी में नहीं जाते। इन रोगों के नियंत्रण में स्वच्छता व टीके वाले सामान्य जन स्वास्थ्य उपाय इस्तेमाल नहीं किए जाते। लेकिन इन रोगों से बचाव के लिए उचित स्वास्थ्य-शिक्षा व पोषण-शिक्षा देना लाभकारी रहता है। इनमें से कुछ रोग तो तनावों से भरे आधुनिक जीवन की देन हैं।

हीनताजन्य रोग (डेफीशिएन्सी डिज़ीज)

ये रोग किसी न किसी पोषक तत्व की मात्रा की कमी के कारण उत्पन्न होते हैं। इस समय यहाँ पर हम केवल अपने देश में होने वाले दो महत्वपूर्ण हीनताजन्य रोगों का वर्णन करेंगे यानी क्वाशियोर्कर और विटामिन ए की कमी का रोग।

क्वाशियोर्कर

यह रोग उग्र रूप से होने वाले प्रोटीन कुपोषण (मालन्यूट्रिशन) से उत्पन्न होता है। हमारे देश में असंख्य बच्चे हैं जो इस रोग से पीड़ित होते हैं। ऐसे बच्चों के लक्षण हैं अवरुद्ध वृद्धि, भूख की कमी, अरक्तता (ऐनीमिया) और बाहर निकला पेट। लगातार दस्त, वजन में कमी और पेशियों की दुर्बलता इसके अन्य लक्षण हैं। साथ ही त्वचा और बालों का रंग उड़ जाता है और त्वचा धब्बेदार हो जाती है तथा टाँगें और पैर सूज जाते हैं।

यह रोग मुख्यतया बच्चों में कम अंतराल रखने, माता द्वारा लम्बे समय तक दूध पिलाने तथा संपूरक भोजन देर से शुरू करने तथा कार्बोहाइड्रेट खाद्य पदार्थों को अधिक अनुपात में खिलाने से होता है।

'यूनीसेफ' (UNICEF), खाद्य एवं कृषि संगठन (एफ० ए० ओ०—FAO) तथा विश्व स्वास्थ्य संगठन (डब्ल्यू० एच० ओ०— WHO) के सहयोग से भारत सरकार ने राष्ट्र व्यापी व्यावहारिक पोषण कार्यक्रम शुरू किया है। इस कार्यक्रम का उद्देश्य है लोगों को पोषण सम्बन्धी आवश्यकताओं की शिक्षा देना, भोजन की उचित आदतों के लिए प्रोत्साहित करना, खाद्य उत्पादन के लिए प्रोत्साहन देना और स्कूल-पूर्व और स्कूली पोषण कार्यक्रमों का संचालन करना।

विटामिन ए की कमी

विटामिन ए की कमी से होने वाले दो महत्वपूर्ण रोग हैं शुष्काक्षिपाक (जीरोप्थैलमिया) और रतौंधी।

शुष्काक्षिपाक की विशेषता है आँखों में अश्रु ग्रंथि का अक्रिय होना यानी काम न करना। उग्र अवस्था में इससे सूखापन, जीवाणविक (बैक्टीरियल) वृद्धि और स्वच्छमंडल या कौर्निया का व्रणीभवन (अल्सरेशन) हो जाता है।

यदि इसका उपचार न किया जाय तो इससे अंधापन भी हो सकता है।

रतौंधी की विशेषता यह है कि इसमें कम रोशनी में दिखलाई नहीं पड़ता।

आँख के दृष्टिपटल या रेटीना में विद्यमान दृश्य नील लोहित (*विजुअल पर्पल*) *नामक यौगिक देखने की प्रक्रिया* में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। विटामिन ए की कमी से इस दृश्य नील लोहित यौगिक के निर्माण पर असर पड़ता है।

विटामिन ए की कमी से त्वचा का सूखा व पपड़ी जैसा होना तथा देह-गुहा के भीतरी अंगों के उपकला अस्तर (एपिथीलियल लाइनिंग) की क्षति दिखलाई देने लगती हैं। संक्रमण के प्रति प्रतिरोध बनाए रखने में भी यह महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

विटामिन ए की अधिकता वाले खाद्य पदार्थ से आहार को संपूरित करने पर रोग का उपचार किया जाता है। अधिक विटामिन ए वाले खाद्य पदार्थ हैं— अंडे का पीला अंश, हरी सब्जी, शार्क की कलेजी का तेल (शार्क लिवर ऑयल) तथा मक्खन।

व्यपजनन रोग (डीजेनरेटिव डिजीज)

इस कोटि में हृदय, केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र और अन्य महत्वपूर्ण अंगों के रोग आते हैं।

हमारे शरीर में हृदय बहुत महत्वपूर्ण अंग है। आजकल हृदय के रोग बहुत आम होते जा रहे हैं।

हृदय-रोगों के कारण

हृदय-रोगों के मुख्य कारणों में धमनीकाठिन्य (आर्टीरियोस्क्लेरोसिस) भी एक कारण है। हृद् धमनी रोग से सम्बन्धित यह एक मूलभूत विकार या गड़बड़ी है। वसा (फैट) यानी चिकनाई वाले पदार्थों के भीतरी जमाव के कारण हृद् धमनियाँ कमजोर पड़ जाती हैं।

इसका परिणाम होता है संरचनात्मक निपात (स्ट्रक्चरल कोलैप्स) और कुछ समय बाद रक्तस्राव (हेमोरेज)।

कभी-कभी रुधिर के प्रवाह पर भी इसका असर पड़ता है और स्कंदन (क्लौटिंग) हो जाता है यानी थक्के बन जाते हैं जिसके परिणामस्वरूप अंततः दिल का तेज दौरा पड़ जाता है। विश्वास किया जाता है कि संतृप्त वसाएँ, जैसे कि मक्खन व क्रीम, हृदय रोग के महत्वपूर्ण कारण हो सकते हैं।

हृदय के विकारों या गड़बड़ियों के अन्य कारण हैं: रूमेटी ज्वर (र्‍यूमेटिक फीवर), उच्च रक्त-दाब, अधिक वजन, हृदय के परिवर्धनात्मक (जन्मजात) दोष, जीवाणु अथवा विषाणु संक्रमण, उग्र प्रकार की अरक्तता, अधिक धूम्रपान, एक स्थान पर स्थिर रहने का स्वभाव और अतिक्रिय अथवा अल्पक्रिय अवटु ग्रंथि (थाइरॉयड ग्लैन्ड)।

हृद् रोग के लक्षण

सामान्यतया इसके लक्षण इन बातों से सम्बन्धित हैं, जैसे— हृदय द्वारा अपना कार्य न कर पाना, नैजआवर्तितता यानी स्वतः होने वाली लय बद्धता (रिद्म) में बाधा, हृदय की ही पेशियों में रुधिर परिसंचरण की गड़बड़ी। हृद् वाहिकाओं (कोरोनरी वेसल्स) की इस गड़बड़ी से हृदय की पेशियों में ऑक्सीजन और पोषक तत्व यथेष्ट मात्रा में नहीं पहुँचते तो इसका परिणाम दर्द हो सकता है। कभी-कभी हृदय की रुधिर-वाहिकाएँ फट भी सकती हैं और हृदय ऊतकों में रक्तस्राव हो सकता है। ऐसी दशाओं में दर्द इतना तेज हो सकता है कि आघात प्रत्यक्ष कारक हो जाता है जिसका चिकित्सक द्वारा तुरन्त उपचार होना चाहिए। हृदय क्षेत्र में होने वाला छाती का दर्द अनेक कारणों से हो सकता है। हृदय का दर्द बहुत परेशान करने वाला या असहनीय प्रकार का होता है। जब हृदय की पेशियाँ ऑक्सीजन तथा पोषक पदार्थों की कमी के कारण क्षतिग्रस्त हो जाती हैं तो दर्द के साथ तीव्र मतली और कै भी हो सकती है।

कुछ शिशु इस प्रकार पैदा होते हैं कि उनके हृदय में संकुचन (कौन्ट्रैक्शन) के समय मरमर या मरमराहट होती है। अनेक युवा लोगों में किशोरावस्था के दौरान अस्थाई रूप से इस प्रकार की मरमराहट होती है।

दिल का दौरा या 'हार्ट-अटैक'

सबसे खतरनाक प्रकार का 'हार्ट अटैक' वह है जिसमें हृदय की रुधिर-वाहिकाओं का हृदय के ऊतकों में

रक्तस्राव हो जाता है या जिनमें हृदय की पेशियों की आवश्यकता पूर्ति के लिए रुधिर वाहिकाएँ पर्याप्त रक्त नहीं ले जा पातीं। ऐसा रुधिर-वाहिकाओं के अस्थाई संकीर्णन, हृद् धमनियों में कठोरीकरण तथा व्यपजनन से सम्बद्ध परिवर्तनों या थक्का (क्लौट) बनने के कारण हो सकता है। आयुर्विज्ञान (मेडिसिन) की शब्दावली में हृदय की यह क्षति 'मायोकार्डियल इनफ़ैक्शन' या हृद्पेशी रोधगलन कहलाती है।

तम्बाकू और हृदय-रोग

अधिकांश रोगियों में एक या दो सिगरेट पीने के बाद हृदय की गति थोड़ी-सी बढ़ जाती है, और परिधीय (पेरीफेरल) रुधिर-वाहिकाएँ संकुचित होकर कुछ सीमा तक रक्त-दाब बढ़ा देती हैं। तम्बाकू का परिसंचरण-तंत्र (सरकुलेटरी सिस्टम) पर जो असर पड़ता है वह निकोटिन के कारण होता है। लेकिन इस बात में मतभेद है कि निकोटिन हृदय-रोग का कारण है या नहीं।

हाल के आँकड़ों से पता चलता है कि धूम्रपान और हृद् धमनी रोगों द्वारा बढ़ने वाली मृत्यु दर में निश्चित रूप से गहरा सम्बन्ध है। पर इससे यह साबित नहीं हो जाता कि इस प्रकार के हृदय-रोग से होने वाली अधिक मृत्यु दर का कारण धूम्रपान ही है, लेकिन इस सहसम्बन्ध से यह आभास तो होता ही है कि हृद् रोग वाले व्यक्ति को धूम्रपान छोड़ देना चाहिए।

हृदय-शल्यकर्म (हार्ट सर्जरी)

सन् 1926 से हृदय सम्बन्धी शल्यकर्म जान बचाने और जीवन अवधि को बढ़ाने वाली सेवा के रूप में विकसित हो गया है। हृदय के कुछ प्रकार के जन्म-जात दोषों को सुधारने में शल्यकर्म से सफलता प्राप्त हुई है। "ब्लू बेबी" सम्बन्धी हृदय के शल्यकर्म में संरचनात्मक दोषों को इस तरह ठीक किया जाता है कि आक्सीजनित (आक्सीजनेटेड) और अनाक्सीजनित (नौन-आक्सीजनेटेड) प्रकार का रुधिर फिर आपस में मिलने नहीं पाता। हाल के वर्षों में, हृद् धमनी रोगों में, हृदय की पेशियों में प्रतिरोपण (ट्रान्सप्लान्टेशन) करके नए सिरे से रुधिर की आपूर्ति करने के सफल प्रयत्न किए गए हैं। इसे "बेक औपरेशन" (beck operation) कहते हैं और इसे निरापद और प्रभावकारी माना गया है।

हृदय-रोग से बचाव का सबसे प्रभावकारी उपाय है स्वास्थकर जीवन जीना और हृदय के बारे में बिना बात चिन्ता न करना। कम संतृप्त वसाओं वाले आहार से रुधिर के कोलेस्टरोल स्तर का नियंत्रण हो सकता है जिससे हृद् धमनी रोगों की कमी की संभावना हो सकती है। हमेशा खान-पान की अच्छी आदतें रखने से आयु लम्बी होती है तथा हृदय और परिसंचरणी रोगों के पनपने के मौके कम हो जाते हैं। संक्रामक रोग, अधिक रक्त-दाब अथवा रूमेटी ज्वर से पीड़ित व्यक्ति को डाक्टरी सलाह ले लेनी चाहिए। वजन और मोटापा नहीं होने देना चाहिए। आधारी उपापचय (बेसल मेटाबोलिज़म) की गड़बड़ियों का चिकित्सक द्वारा उपचार करा लेना चाहिए, यदि इनकी पहचान हो जाती है। हृदय-रोगों से बचने के लिए धूम्रपान तथा मद्यपान से भी बचना चाहिए और जरूरत के अनुसार डाक्टर की सलाह से उचित औषधियों का इस्तेमाल होना चाहिए। कार्य के अनुसार अपने को अनुकूलित करना और हृदय के अनुसार आनन्द और मनोविनोद करने से हृदय सबल और स्वास्थ्य अच्छा बना रहता है।

आघात या स्ट्रोक

मस्तिष्क को पहुँचने वाली सबसे सामान्य प्रकार की क्षति को आघात या 'स्ट्रोक' कहते हैं। आघात में मस्तिष्क के किसी भाग तक होने वाले खून का संचार या प्रवाह अचानक बन्द हो जाता है। इससे क्या होता है कि उस भाग से सम्बद्ध सभी संरचनाओं को भी क्षति पहुँच जाती है।

स्ट्रोक इन कारणों से हो सकते हैं—किसी रुधिर वाहिका के फटने पर रक्तस्राव होने से, रुधिर-वाहिका के अन्दर थक्का बनने से, किसी छोटे कण से धमनी की ऐंठन या रुधिर वाहिका के अवरोध से। यह कण प्रायः रुधिर प्रवाह में खून के तैरते थक्के के रूप में हो सकता है।

आघात (स्ट्रोक) के कारण के आधार पर उपचार भिन्न-भिन्न प्रकार का हो सकता है। आघात से अपंग

बनने वाले रोगी को सामान्यतया पुनः स्वास्थ्य लाभ कराया जा सकता है, यदि वह भयानक नहीं है तो ।

मधुमेह

मधुमेह (डाएबिटीज मेलिटस) ऐसा रोग है जिसका लक्षण है रुधिर में शर्करा की अधिक मात्रा की उपस्थिति और पेशाव में उसका उत्सर्जन । इसके विपरीत **उदकमेह** (डाएबिटीज इनसिपिडस), रोग की वह अवस्था है जिसमें पेशाब बहुत अधिक होता है, लेकिन इस अवस्था में मूत्र फीका या स्वादहीन होता है। उदकमेह पीयूष ग्रंथि (पिट्यूटरी ग्लैन्ड) के किसी भाग में गड़बड़ी हो जाने से और मधुमेह लैंगरहैन्स द्वीप (आइलेट्स लैंगर-हैन्स) नामक अंतःस्रावी (एन्डोक्राइन) ग्रंथि की दोषपूर्ण क्रिया से सम्बद्ध है। यह लैंगरहैन्स द्वीप नामक ग्रंथि इन्सुलिन नामक हारमोन का स्रवण करती है।

मधुमेह का रोगी पानी बहुत अधिक मात्रा में पीता है क्योंकि वह प्रायः प्यास महसूस करता रहता है। इसके अन्य लक्षण हैं—बहुत अधिक पेशाब आना, बार-बार पेशाब आना, अधिक भूख लगना, वजन में कमी तथा सामान्य कमजोरी। यह रोग तरुण व वृद्ध स्त्रियों व पुरुषों को प्रभावित करता है। मधुमेह का सर्वप्रथम स्पष्ट लक्षण है मूत्र में शर्करा की उपस्थिति और रुधिर-शर्करा का उच्च स्तर।

इन्सुलिन को उपचार के रूप में नहीं बल्कि उपचार के बदले इस्तेमाल किए जाने वाले विकल्प के रूप में प्रयुक्त किया जाता है । इन्सुलिन अच्छी मानकीकृत (स्टैन्डर्डाइज्ड) मात्राओं में उपलब्ध होता है। टोलब्यूटा-माइड सरीखी औषधियों को मुँह द्वारा लिया जा सकता है। लेकिन ये औषधियाँ इन्सुलिन का स्थान नहीं ले सकतीं ।

यदि मधुमेह का रोगी लम्बी व आरामदायक जिन्दगी चाहता है तो खुद की देखभाल करने की दो विधियाँ हैं—इन्सुलिन की व्यवस्था और मूत्र का विश्लेषण। मधुमेह रोगी का स्वास्थ्य और अमन चैन ली गई इन्सुलिन की मात्रा, आहार और की गई कसरत पर निर्भर करता है।

संधिशोथ या आर्थ्राइटिस

इसे सही मायने में व्यपजनन-रोग नहीं कहा जा सकता । एक प्रकार का संधिशोथ (आर्थ्राइटिस), जिसे व्यपजनन संधिशोथ कहते हैं, चढ़ती उम्र का रोग है। संधिशोथ एक सामान्य शब्द है जिसे कई किस्म के रोगों के लिए प्रयुक्त किया जाता है और जिनकी विशेषता है जोड़ों या संधियों की अपसामान्यता । इनमें से सबसे सामान्य है व्यपजनन संधिशोथ और रूमेटी संधिशोथ ।

व्यपजनन-संधिशोथ आमतौर पर 40 साल की उम्र के बाद होता है। हड्डियों में कालप्रभावन (एजिंग) की प्रक्रिया जल्दी शुरू हो जाती है । व्यपजनन की प्रक्रिया पहले उपास्थि (कार्टिलेज) को प्रभावित करती है । यह उपास्थि जोड़ों के धक्कों या आघातों को सोखती या सहती हैं, और इसकी हानि से रोग सम्बन्धी परिवर्तन शुरू होने लगते हैं।

रूमेटी संधिशोथ पहले उस झिल्ली पर आक्रमण करता है जो जोड़ों के बीच में होती है (सिनोविअल मेम्ब्रेन) और इस आक्रमण की वजह से शोथ (इनफ्लैमेशन) हो जाता है। अंततः इससे जोड़ में कड़ापन (अस्थिसमेकन—अंकाइलोसिस) आ जाता है।

संधिशोथ या आर्थ्राइटिस के रोगियों को भौतिक चिकित्सा (फिजियोथिरेपी) से चैन मिलता है। इस प्रकार आमतौर पर संधिशोथ का रोगी वह है जिसके जोड़ पुराने पड़ गए हों। लेकिन उचित देखभाल और सावधानी से वृद्ध होने के साथ-साथ आरामपूर्वक भी रहा जा सकता है।

कैन्सर

कैन्सर कोशिकाओं का रोग है। इसकी शुरुआत अधिकांशतया उन्हीं ऊतकों में होती है जो स्वभावतः अपना नवीनीकरण करते रहते हैं, जैसे कि त्वचा, पाचन-पथ के अस्तर या लाईनिंग, जनन तंत्र के अंग, फेफड़े और यकृत। सामान्यतया नियंत्रित प्रकार से जनन करने वाली कोशिकाएँ अचानक इन ऊतकों में अंधाधुन्ध रूप से विभाजित होने लगती हैं और वृद्धि करते जाने वाले बड़े अर्बुद (ट्यूमर) बनाने लगती हैं, जिसका कारण अब तक अज्ञात है। इन अर्बुदों की पृथक कोशिकाएँ

रुधिर प्रवाह या लसीका-तंत्र में पहुँच जाती हैं और फिर शरीर के अन्य भागों को भी ले जाई जाती हैं। यहाँ भी वे जनन करते हुए वृद्धि करती जाती है जिससे अन्य ऊतकों की सामान्य शारीरिक प्रक्रिया में बाधा पहुँचती है। यदि विकिरण (रेडिएशन), रसायन चिकित्सा अथवा शल्य चिकित्सा से इनका उपचार न किया गया तो प्रायः ये दुर्दम (मेलाइनेन्ट) कोशिकाएँ तब तक बढ़ती जाती हैं जब तक कि शारीरिक प्रक्रियाओं में बाधा पहुँचाते हुए अंततः ये मृत्यु का कारण नहीं बन जातीं।

जहाँ तक कैन्सर की संभावना का सम्बन्ध है खतरे के सात संकेत हैं जिनके आधार पर व्यक्ति को तुरन्त डाक्टर की सलाह ले लेनी चाहिए। ये संकेत निम्नलिखित हैं :

1. कोई ठीक न होने वाला घाव।
2. छाती में या अन्यत्र गाँठ या ढेले जैसी अपवृद्धि।
3. असामान्य प्रकार से रक्तस्रवण (ब्लीडिंग) अथवा विसर्जन (डिस्चार्ज)।
4. मस्से या तिल में परिवर्तन होना।
5. निरन्तर अपाचन बने रहना या निगलने में कठिनाई होना।
6. स्थायी रूप से स्वररुक्षता (होर्सनेस) अथवा खाँसी।
7. आँत्र-प्रकृति में परिवर्तन होना यानी शौच जाने की आदत में परिवर्तन होना।

कैन्सर का निदान निम्नलिखित एक या अनेक क्रिया-विधियों से किया जाता है—(1) जीवित परीक्षा (बायोप्सी), (2) एक्स-रे, (3) शरीर के तरल पदार्थों का सूक्ष्मदर्शी में परीक्षण तथा (4) रुधिर की परीक्षा।

चिकित्सा विज्ञान के अनुभव से स्पष्ट है कि कैन्सर के अधिकांश रोगियों को ठीक किया जा सकता है, यदि इस विकार या गड़बड़ी का निदान आरम्भिक अवस्था में हो जाता है। देर से निदान होने पर कैन्सर का खतरा अधिक बढ़ जाता है।

आमाशय का कैन्सर बहुत महत्व का है। इसका कारण ज्ञात नहीं है। आमाशय के कैन्सर की पहचान का सबसे प्रभावकारी साधन है—एक्स-रे या प्रतिदीप्ति (फ्लुओरेसेन्स) का प्रयोग। इसके निदान के लिए प्रायः गैस्ट्रोस्कोप नामक यंत्र का प्रयोग किया जाता है, जो आमाशय के भीतरी भाग का निरीक्षण करने की एक महत्वपूर्ण युक्ति है। यदि आरम्भ में पहचान हो जाय तो आमाशय के कैन्सर को ठीक किया जा सकता है।

फेफड़े का कैन्सर

पिछले करीब पच्चीस वर्षों के दौरान शव परीक्षा (ओटोप्सी) सम्बन्धी पूरे विश्व की जानकारी से पता चला है कि फेफड़े के कैन्सर से होने वाली मृत्यु में वृद्धि हुई है। इस रोग में कोई आरम्भिक लक्षण नहीं होते कि सामान्य श्वसन-रोगों से उनका अंतर स्पष्ट किया जा सके। रोग में कोई भी शारीरिक लक्षण नहीं दिखलाई देते।

आरम्भिक अवस्था में फेफड़े के कैन्सर की सबसे अच्छी पहचान की विधि है समय-समय पर छाती का एक्स-रे परीक्षण। थूक का सूक्ष्मदर्शीय निरीक्षण करने पर और फिर एक्स-रे परीक्षण द्वारा इसकी पुष्टि की जा सकती है। संदेहास्पद रोगियों में छाती का शल्यचिकित्सीय अन्वेषण भी किया जाता है।

वायु प्रदूषण को फेफड़े के कैन्सर का एक कारण माना जाता है। हाल के वर्षों में धूम्रपान को भी फेफड़े के कैन्सर का एक संदिग्ध कारण माना गया है। इस बारे में अभी ज्ञात नहीं है कि तम्बाकू के धुएँ का कौन-सा विशेष घटक कैन्सर का असली कारण है। लेकिन तम्बाकू के ऐसे घटकों में से एक घटक तो ऐसा खोज ही लिया गया है जिससे कैन्सर होना साबित किया गया है, और यह घटक है बेंजपाइरीन। अन्य दो पदार्थ जिन्हें कैन्सर करने वाला कहा जाता है, वे हैं आर्सेनिक और टार।

अधिश्वेतरक्तता (ल्यूकीमिया)

ल्यूकीमिया रक्त बनाने वाले अंगों की दुर्दमता या मैलाइनेन्सी (कैन्सर) है। यह ऐसा कैन्सर है जिसमें श्वेत रुधिर कोशिकाओं की अपसामान्य रूप से बढ़ोतरी हो जाती है और जो फिर अन्य ऊतकों में भी घुस पहुँचती हैं, जैसे कि अस्थि-मज्जा (बोन मैरो), प्लीहा या तिल्ली (स्प्लीन) और लसीका पर्वों (लिम्फ नोड्स) में। उग्र प्रकार का ल्यूकीमिया अधिकांशतया पाँच साल से नीचे के बच्चों में

होता है और इस वय वर्ग में यह मृत्यु का एक प्रमुख कारण है। लेकिन यह किसी भी उम्र में हो सकता है। हर प्रकार का ल्यूकीमिया घातक होता है। अभी तक इसको ठीक करने की कोई वास्तविक उपचार विधि ज्ञात नहीं हो सकी है।

क्या कैन्सर आनुवंशिक या पैतृक रोग है ?

यह सिद्ध नहीं हो सका है कि मानव में कैन्सर आनुवंशिक है। लकिन साथ ही यह भी अच्छी तरह साबित नहीं हुआ है कि यह आनुवंशिक नहीं है। सही निष्कर्ष निकालने के लिए अभी पर्याप्त प्रमाण नहीं मिल सके हैं।

एलर्जी

एलर्जी उस किसी भी अवस्था को कहा जा सकता है, जिसमें कोई व्यक्ति किसी पदार्थ या कारक (एजेन्ट) के प्रति अतिसंवेदनशील अथवा असामान्य प्रकार की अनुक्रिया दिखलाता है। लोगों को कई चीजों से एलर्जी हो सकती है, जैसे भोजन पदार्थों, औषधियों, धूल, पराग, कपड़ों, पौधों, बैक्टीरिया, प्राणियों, ताप, सूर्य के प्रकाश अथवा अन्य कई पदार्थों से। एलर्जी के परिणामस्वरूप होने वाले लक्षण कई प्रकार के हो सकते हैं, लेकिन अधिकांशतया यह त्वचा और श्लेष्मा झिल्ली (म्यूकस मेम्ब्रेन) को ही प्रभावित करते हैं। त्वचा की ऐसी अतिसंवेदनशील अवस्था सारे शरीर में होने वाले परिवर्तनों के कारण ही होती है।

एलर्जी की अभिक्रिया होने के लिए दो बातें जरूरी हैं। पहले किसी विशिष्ट पदार्थ के प्रति आरम्भिक संवेदनीकरण (सेन्सिटाइजेशन) होना चाहिए। व्यक्ति को इस प्रथम उद्‌भासन या सम्पर्क (एक्सपोजर) का पता कभी भी नहीं चलता और इसी कारण प्राय: जो व्यक्ति एलर्जी की प्रक्रिया में होता है उसे यह विश्वास नहीं होता कि वह पहले संवेदीकृत (सेन्सिटाइज्ड) हो चुका है। लेकिन फिर किसी पदार्थ से दुबारा सम्पर्क होना भी जरूरी है और इसी समय एलर्जी के प्रकोपी या सामान्य लक्षण दिखलाई देने लगते हैं। सामान्यतया पदार्थ के निराकरण से एलर्जी के लक्षण बड़ी जल्दी गायब हो जाते हैं जिसके प्रति कि व्यक्ति अतिसंवेदनशील होता है। किन्तु फिर से उसका सम्पर्क होने पर ये लक्षण पुन: प्रकट हो जाते हैं। 'हे फीवर' नाक, आँख, और ऊपरी श्वसन-पथ की श्लेष्मा-झिल्लियों को प्रभावित करता है। दमा (ऐस्थ्मा) में श्वसन-पथ का निचला भाग बुरी तरह से प्रभावित हो जाता है।

एलर्जी से सम्बद्ध त्वचा का सबसे अधिक सामान्य परिवर्तन है लाल हो जाना। अधिचर्म (एपिडर्मिस) के नीचे प्राय: ऊतक के तरल पदार्थों का जमाव हो जाता है। एलर्जी से सम्बन्धित दूसरा लक्षण है छाजन या एक्जिमा। एक्जिमा में त्वचा लाल हो जाती है और फिर इसके बाद इसमें छोटे-छोटे छाले पड़ जाते हैं। एक्जिमा शरीर के कई क्षेत्रों में हो सकते हैं, और एलर्जी के अन्य लक्षणों में यह सबसे उग्र लक्षण है। समय समय पर जो अन्य लक्षण दिखलाई देते हैं वे हैं—ग्रंथिकाएँ या गाँठ और बड़े-बड़े छाले।

एलर्जी विशिष्ट खाद्य पदार्थों, औषधियों, कपड़ों, धूल, पराग, पौधों, प्राणियों, गरमी, ठंड और प्रकाश से होती है। कभी-कभी एलर्जी के ऐसे लक्षण भी प्रकट होते हैं जिनको इन कारकों में से किसी से भी नहीं जोड़ा जा सकता। यह माना जाता है कि ऐसे लक्षण शरीर पर मानसिक प्रभाव से उत्पन्न होते हैं। ये कैसे उत्पन्न होते है इससे सम्बन्धित प्रक्रिया अभी भली भाँति ज्ञात नहीं है।

व्यक्ति का उचित उपचार करने के पहले यह निश्चित कर लिया जाना चाहिए कि वह किस पदार्थ के प्रति अतिसंवेदनशील है। कई प्रकार के एलर्जी-विकारों के उपचार में एन्टिहिस्टामाइन वर्ग की औषधियाँ काफी महत्वपूर्ण हैं।

अभ्यास

1. हीनताजन्य (डेफीशिएन्सी) रोग से क्या समझते हो ? हीनताजन्य रोगों से लड़ने के लिए कौन से कारक सम्बद्ध हैं ?
2. क्वाशियोर्कर के क्या चिह्न और लक्षण हैं ?
3. व्यपजनन-रोग से क्या समझते हो ? इनकी रोकथाम सामुदायिक स्वास्थ्य कार्यकर्त्ता की अपेक्षा व्यक्ति से क्यों सम्बद्ध है ?
4. हृदय-रोगों के मुख्य कारण क्या हैं ? धूम्रपान हृदय और फेफड़ों के रोगों को किस प्रकार प्रभावित करता है ?
5. "कैन्सर को ठीक नहीं किया जा सकता और यह आनुवंशिक है"—इस कथन पर टीका-टिप्पणी करो ।

अध्याय-38

मदिरोन्मत्तता और दवाओं का व्यसन

धूम्रपान, मदिरापान और दवाओं का व्यसन सामाजिक रोग हैं जो लोगों का स्वास्थ्य चौपट कर देते हैं, जनशक्ति की हानि करते हैं और आर्थिक प्रगति में बाधा पहुँचाते हैं। लोगों में इनकी कुटेव किशोरावस्था में हँसी मजाक के लिए या उत्सुकता की संतुष्टि के लिए या थोथे तर्कों के कारण पड़ती है। लेकिन ऐसी आदत पड़ने पर शीघ्र ही ये उस सीमा पर पहुँच जाते हैं जहाँ से लौटना मुश्किल होता है और वे इसके परिणाम भुगतने के लिए मजबूर हो जाते है। पिछले अध्याय में हम धूम्रपान के दुष्प्रभावों का वर्णन कर ही चुके हैं। इस अध्याय में हम दो अन्य बुराइयों, मदिरा सेवन और दवा के व्यसन का वर्णन करेंगे।

मदिरोन्मत्तता या मदिरा सेवन

मदिरा का सेवन समाज के गरीब और समृद्ध दोनों प्रकार के लोगों द्वारा किया जाता है। पेय किसी भी प्रकार का हो, यदि उसमें एल्कोहॉल है तो उससे नशा या उन्माद होता है। इसका असर भी वैसे ही होता है जैसे और विषों का होता है।

पहले ही घूँट से नशा होने लगता है लेकिन आरम्भिक लक्षण दिखलाई नहीं देते। इसकी मात्रा बढ़ती जाती है तो शरीर पर का नियंत्रण ढीला पड़ जाता है। धीरे-धीरे व्यक्ति अपनी चेतना खो बैठता है और इसकी चरम अवस्था में तो मृत्यु भी हो सकती है।

जो लोग मदिरा पीने की आदत डालते हैं वे इसके हानिकारक परिणामों को जाने बिना या उनके बारे में सोचे बिना ही ऐसा करते हैं। वे इसकी शुरुआत थोड़ी-सी मात्रा से ही करते हैं लेकिन शीघ्र ही नौसिखिए इसके आदी हो जाते है और वो एल्कोहॉल की काफी अधिक मात्रा लेने लग जाते हैं। जब वे एल्कोहॉल या शराब के दुष्प्रभाव के शिकार हो जाते हैं तो तब बहुत अधिक देर हो चुकती है और उनका इसे छोड़ना कठिन हो जाता है।

एल्कोहॉल के प्रभाव

अनुसंधान के परिणामों से पता चला है कि जो लोग मदिरा पान करते हैं वे निम्नलिखित कारणों में से एक या अनेक कारण बतलाते हैं—(1) सामाजिक दबाव (2) उन्मुक्तता की अनुभूति (3) स्वाद की चाह (4) उत्तेजना की इच्छा (5) असन्तुष्टि तथा असफलताओं सरीखी जीवन की वास्तविकताओं से पलायन की इच्छा (6) दैनिक जीवन की परेशानियाँ व एकरसता।

इससे जो भी प्रत्याशाएँ हों लेकिन यह सिद्ध कर लिया जा चुका है कि मदिरा के सेवन से व्यक्ति के स्वास्थ्य व पारिवारिक जीवन पर प्रभाव पड़ता है और अन्ततः इससे सामुदायिक समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं। प्रत्याशित फायदों की अपेक्षा इससे होने वाले हानिकारक प्रभाव कहीं अधिक गम्भीर होते हैं। अतः इनका पृथक रूप से विवेचन करना उचित होगा।

(क) स्वास्थ्य पर प्रभाव

कई लोग मदिरा का सेवन एक प्रकार के "उद्दीपन" या उत्तेजन के लिए करते हैं लेकिन वास्तव में यह तंत्रिका तंत्र (नर्वस सिस्टम) का अवसादन करता है और इस तरह शामक (सेडेटिव), वेदनाहर (एनलजेसिक) और संवदेनाहर (एनेस्थेटिक) का कार्य करता है। यह शरीर के हर प्रकार के ऊतक (टिश्यू) की दक्षता को कम कर देता है। चिरकारी (क्रोनिक) मद्यप में तंत्रिका की तंत्रिकाओं (ऐक्सोन) में शोथ या सूजन हो जाती है जिससे तंत्रिकाशोथ (न्यूराइटिस) नामक रोग हो जाता है। तंत्रिका-तंत्र पर एल्कोहॉल के लम्बे समय वाले प्रभाव से विभिन्न मानसिक व शारीरिक लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

एल्कोहॉल से शरीर में अधिक ऊर्जा और गर्मी उत्पन्न होती है। लेकिन साथ ही इससे रुधिर-वाहिकाओं का विस्फारण (डाइलेशन) भी हो जाता है। इस प्रकार उत्पन्न गर्मी (ताप) जल्दी नष्ट हो जाती है। निरन्तर विस्फारण से धमनियों की दीवारें बड़ी जल्दी भंगुर और कड़ी हो जाती हैं। रुधिर-वाहिकाओं के लक्षण में इस प्रकार का परिवर्तन होता है और एल्कोहॉलीय वसा के जमा होने से हृदय की क्रियाविधि पर भी प्रभाव पड़ता है।

एल्कोहॉल की थोड़ी मात्रा और अल्प सान्द्रता से जठरीय रसों का स्रवण उद्दीपित होता है। लेकिन अधिक मात्रा और अधिक सान्द्रता से विपरीत प्रभाव पड़ता है। एल्कोहॉल से आमाशय के अस्तर पर सूजन या शोथ हो जाती है। अधिकांश मदिरा पीने वाले, विशेषकर वे, जो खाली पेट पीते हैं, जठरशोथ (गैस्ट्राइटिस) के शिकार हो जाते हैं।

एल्कोहॉल या मदिरा से जिस महत्वपूर्ण अंग को क्षति पहुँचती वह है यकृत् (लिवर)। यकृत् ग्लाइकोजन का भंडार घर होता है लेकिन एल्कोहॉल से यकृत् में वसा जमा होने लग जाती है। धीरे-धीरे यकृत् कड़ा होने लगता है और साथ ही सूखने भी लगता है। एक बार यकृत् के क्षतिग्रस्त होने पर उसका असर शरीर के अन्य अंगों पर भी पड़ता चला जाता है।

एल्कोहॉल या मदिरा पीने वाले अपने स्वास्थ्य की उपेक्षा करने लगते हैं और इससे रोगों के संक्रमण के प्रति शरीर की रोध क्षमता कम हो जाती है। मद्यप अधिकांशतया कुपोषण के शिकार हो जाते हैं और न्युमोनिया सरीखे रोगों के प्रति संवेदनशील बन जाते हैं।

(ख) परिवार और समुदाय पर प्रभाव

मदिरा पान से पीने वाले की समस्याएँ ही नहीं पैदा होतीं बल्कि प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से परिवार और समुदाय के जीवन पर भी इनसे प्रभाव पड़ता है।

एल्कोहॉलीय पेय बहुत मंहगे होते हैं और अपने स्वार्थपूर्ण स्वभाव के कारण अधिकांश मदिरा सेवी अपने बच्चों और परिवार के लोगों को उनकी मूलभूत आवश्यकताओं से वंचित रखते हैं। इससे वे स्वास्थ्य सम्बन्धी व अन्य प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न कर देते हैं। शराब का पीना अन्य सामाजिक अपराधों से भी सम्बद्ध है और इसकी री में नैतिक व सांस्कृतिक प्रतिबंध भी धुल जाते हैं।

समुदाय या समाज में हिंसा और अन्य प्रकार की वारदातें भी प्रायः प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप में शराब पीने के कारण होती हे। शराब के सेवन से उद्योगों में दुर्घटनाओं की दर बढ़ जाती है और उत्पादन की दर कम हो जाती है। सड़कों पर की दुर्घटनाएँ भी प्रायः पियक्कड़ ड्राइवरों के कारण ही होती हैं। गैरकानूनी रूप से शराब बनाने और बेचने सरीखे क्रियाकलापों से समाज विरोधी गतिविधियों को बढ़ावा मिलता है।

दवाओं का व्यसन

दवाओं का प्रयोग सामान्यतया रोगों के उपचार में किया जाता है। ये वे रसायन हैं जो केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र के प्रति प्रतिक्रिया दिखलाते हैं और व्यक्ति पर मानसिक व शारीरिक रूप से प्रभाव डालते हैं। लम्बे समय तक दवाओं के प्रयोग से शरीर उन पर ही निर्भर रहने का आदी हो जाता है, और इसी को दवा का व्यसन कहते हैं। कुछ लोग बिना डाक्टरी सलाह के दवाएँ लेना शुरू कर देते हैं और वे शीघ्र ही दवा के व्यसनी बन जाते है। कुछ दवाओं के प्रयोग से उनको लगातार लेने की आदत ही बन जाती है और शरीर पूरी तरह

से उन पर ही निर्भर रहने लगता है। व्यसनी बनाने वाली दवाओं से छुटकारा पाना संभव है लेकिन छोड़ने पर होने वाले गम्भीर प्रभावों के कारण उन दवाओं का त्याग करना बहुत मुश्किल हो जाता है जिन पर शरीर पूरी तरह से निर्भर रहने लगता है। दवाओं को दो समूहों में वर्गीकृत किया जा सकता है :

(क) स्वापक (नार्कोटिक्स)—जो तंत्रिका तंत्र की क्रियाशीलता को संदमित या कम कर देती है; जैसे अफीम व उसके व्युत्पन्न (डेरिवेटिव), संश्लेषी किस्म के पदार्थ।

(ख) उद्दीपक (स्टिमुलेन्ट्स)—जो केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र के क्रियाकलापों को बढ़ा देते हैं; या तो प्रत्यक्ष रूप से कोशिकाओं की सक्रियता को बढ़ाकर या कुछ तंत्रिकाओं की सामान्य संदमनी (इनहिबिटरी) क्रिया का अवरोध करके, जैसे एम्फेटेमीन समूह।

दवा का व्यसन कैसे शुरू होता है ?

इस लत के पड़ने के कई कारण हैं :

(1) उत्सुकता—अखबार, साहित्य और रेडियो में बार-बार दवाओं के बारे में जो जानकारी दी जाती है, उत्सुकता वश व्यक्ति खुद ही उसका सच्चा अनुभव करना चाहता है। कुछ को यह अच्छा लगता है और इस तरह धीरे-धीरे लत पड़ जाती है।

(2) अभिजात वर्ग का जोर—मित्रों द्वारा लगातार "अच्छी अनुभूति" की चर्चा करते रहने से भी लोभ आ जाता है। दोस्तों और अभिजात वर्ग द्वारा बल दिए जाने पर भी दवाओं का व्यसन शुरू हो जाता है।

(3) निराशाओं और चिन्ताओं से छुटकारा पाने के लिए—व्यक्तिगत समस्याओं से मुक्ति पाने की इच्छा से भी दवाओं की लत पड़ती है। जो स्कूली बच्चे दवाओं की शरण में जाते हैं, वे ऐसा प्राय: अकेलेपन, प्यार से वंचित रहने व असुरक्षा की भावना के कारण करते हैं।

(4) उत्तेजना और अपूर्व अनुभव के लिए—तरुण लोगों का उत्तेजना के कार्य के लिए तैयार होना स्वाभाविक ही है। चूंकि इस प्रकार से दवाओं का लेना गैरकानूनी है इसलिए इससे उनकी उत्तेजना और जोखिम या नए अनुभव की भावना की संतुष्टि होती है।

(5) एक नई दुनिया देखने की ललक—कुछ यह विश्वास करते हैं कि नशीली दवाओं से एक नई दुनिया का बोध होता है और सौन्दर्य भावना, बौद्धिक आनन्द एवं सृजनशीलता की भावना में वृद्धि होती है।

(6) अधिक शारीरिक व मानसिक कार्य करने की इच्छा—कुछ लोग काम करने की क्षमता बढ़ाने के लिए दवाओं का प्रयोग करते हैं। कुछ विद्यार्थी इम्तहान से पहले रात भर पढ़ने के लिए दवाओं का इस्तेमाल करते हैं। लेकिन इस तरह से तो मानसिक गड़बड़ी ही अधिक होती है।

(7) दर्द से छुटकारा पाने के लिए निरंतर प्रयोग—दर्द से पीड़ित व्यक्ति उससे छुटकारा पाने के लिए दवाओं का इस्तेमाल करते हैं। कभी-कभी यह निरंतर प्रयोग डाक्टर के नुस्खे के कारण भी होता है। लेकिन इस तरह वे व्यसनी बन जाते हैं और इनके बिना तो वे जिन्दा ही नहीं रह सकते।

(8) पारिवारिक इतिहास—परिवार में जब माता-पिता या अन्य सदस्यों को दवा इस्तेमाल करते देखा जाता है तो इससे भी दवाओं की लत शुरू हो जाती है।

इस तरह इनकी शुरुआत का जो भी कारण हो, अधिकांश दवा-व्यसनियों में असुरक्षा की भावना रहती है और वे मनोवैज्ञानिक रूप से असंतुलित होते हैं। उन्हें जीवन बड़ा नीरस व असहनीय सा लगता है, और निराशा तथा दु:ख से भरा हुआ प्रतीत होता है। सारी दुनिया में ही नशीली दवाओं का यह व्यसन बढ़ता चला जा रहा है और युवा लोगों में तो कुछ अधिक ही है। नौसिखिये की पहचान करना बड़ा कठिन होता है। शराब या तम्बाकू के इस्तेमाल करने वाले की कुछ पहचान की जा सकती है लेकिन दवा लेने वाले की इस प्रकार की पहचान नहीं हो सकती। फिर भी दवा के व्यसनी आरम्भिक अवस्था में बड़े विनीत, शांतिप्रिय और चुप्पे होते हैं। वे यह जानते हैं कि वे गैरक़ानूनी काम कर रहे हैं इसलिए वे इसका जरा भी मौका नहीं देना चाहते कि पहचाने जाएँ। जब उनकी पहचान होती

है तो इसके पहले ही वे दवा के व्यसनी हो चुकते हैं और फिर उनको सुधारना या उनका पुनः स्थापन करना बहुत मुश्किल हो जाता है।

दवाओं के बुरे प्रभाव क्या हैं ?

दवाओं को लने का जो भी कारण हो या आरम्भिक परिणाम जो भी हो ऐसी सभी दवाएँ (स्वापक और उद्दीपक दोनों) शरीर के लिए हानिकारक होती हैं। कुछ दवाओं के दुष्प्रभाव नीचे दिए जाते हैं :

(i) अफीम और उसके व्युत्पन्न (डेरीवेटिव)—अफीम पोस्त के पौधे के कच्चे संपुटों या डोंडों का सारसत्त होती है। खाकर या धूम्रपान के रूप में इसे इस्तेमाल किया जाता है। अफीम से व्युत्पन्न यौगिकों का—जैसे मोर्फीन, हेरोइन व कोडीन का भी इस्तेमाल किया जाता है। पेथिडीन तथा मेथीडोन सरीखी कुछ संश्लेषी दवाएँ भी अफीम से व्युत्पन्न पदार्थों के जैसे प्रभाव उत्पन्न करती हैं।

अफीम से व्युत्पन्न पदार्थ श्वसन और हृद्वाहिका कार्डियोवैस्कुर की क्रियाशीलता को एकदम कम कर देते हैं, आँख की पुतली (प्यूपिल) को संकुचित कर देते हैं, दृष्टि की क्रियाशीलता को कम कर देते हैं और मतली व कै कर-वाने में भी योग देते है। अधिक मात्रा में तो श्वसन तक रुक जाता है और मृत्यु हो जाती है। यदि दवा उपलब्ध नहीं होती तो व्यसनी बड़े भयानक "अपनयन लक्षणों" (विदड्राअल सिम्पटम्स) का प्रदर्शन करता है और इन्हें पेशी की ऐंठन, बहती नाक, कै और मिरगी या अपस्मार (एपिलेप्सी) के रूप में बखूबी देखा जा सकता है।

(ii) भाँग के पौधे के उत्पाद– भाँग के पौधे (**कैनाबिस इन्डिका**) की सूखी पत्तियों और फूलों से भाँग, गाँजा और चरस नामक तीन दवाएँ प्राप्त की जाती हैं। दूसरी दवा मेरीजुआना एक दूसरे प्रकार के भाँग के पौधे (**कैनाबिस सेटाइवा**) से प्राप्त की जाती है। इनको लेने के तुरन्त बाद आँखों की पुतलियाँ फैल जाती हैं, रुधिर-शर्करा का स्तर बढ़ जाता है और पेशाब बार-बार आता है। अन्य दवाओं की तुलना में ये दवाएँ कम हानिकारक लग सकती हैं लेकिन इनका परिणाम 'हेरोइन' व्यसन भी हो सकता है। इनमें कुछ दवाओं (जैसे मेरीजुआना) से चिंता जनक स्थिति भी उत्पन्न हो सकती है क्योंकि इससे मनोविक्षिप्ति (साइकोसिस) भी हो सकती है।

(iii) कोका पौधे के उत्पाद—इसके व्युत्पन्न को कोकेन कहते हैं। इसके दुष्प्रभाव हैं नींद न आना, भूख कम लगना तथा विभ्रम (हैलुसिनेशन) होना और अन्ततः जिसका परिणाम होता है विक्षिप्त प्रकार के मानसिक क्रिया-कलाप तथा पागलपन। इसके गलत इस्तेमाल से तेज सिर दर्द व आक्षेप (कनवल्सन) हो सकता है और फिर हृद्वाहिका या श्वसन-पात (फेल्यौर) से मृत्यु भी हो सकती है।

एल०एस०डी०

यह एक जर्मन शब्द का संक्षिप्त रूप है जो पूरा इस प्रकार है—डी – लाइसर्जिक एसिड डाइमेथिलएमाइड 15। यह अर्गट कवक से व्युत्पन्न होता है। इस दवा से चिरकारी मनोविक्षिप्ति हो जाती है तथा केन्द्रीय तंत्रिका-तंत्र को भारी क्षति पहुँचती है। यह गुणसूत्रों (क्रोमोसोम) को भी क्षति पहुँचाता है, और इसके कारण अपसामान्य गर्भ उत्पन्न होता है।

एम्फेटेमीन प्रकार के तथा अन्य प्रकार के उद्दीपक

ये संश्लेषी दवाएँ (सिन्थेटिक ड्रग) अधिक क्रिया-शीलता और स्फूर्ति के लिए ली जाती हैं। अधिक मात्रा में लेने पर नींद न आने की दशा आ जाती है।

बार्बिट्यूरेट

ये संश्लेषी दवाएँ व्यापक रूप से शामक (सेडेटिव) के रूप में इस्तेमाल की जाती हैं। इनसे केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र की क्रियाशीलता मंद पड़ जाती है, चिंता कम हो जाती है और नींद आ जाती है। बार्बिट्यूरेट की सामान्य मात्रा के बाद एल्कोहॉल लेने से मृत्यु हो सकती है। एक बार इनका व्यसन पड़ जाने पर फिर इस लत का छुड़ाना मुश्किल हो जाता है। इसको छुड़वाने पर मिरगी के से लक्षण प्रकट होने लगते हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सभी दवाएँ केन्द्रीय तंत्रिका-तंत्र पर असर करती हैं और लम्बे समय तक

इनके इस्तेमाल से स्थायी क्षति हो जाती है। इनसे ऐसी आदत पड़ जाती है कि दवा के बिना शरीर काम ही नहीं करता। अंत में अन्य अंग भी क्षतिग्रस्त हो जाते हैं और चूंकि दवा का इस्तेमाल करने वाले ठीक से खाते पीते नहीं और स्वास्थ्य के नेमी उपायों का पालन नहीं करते इसलिये वे कई प्रकार के रोगों के शिकार हो जाते हैं। व्यक्ति सचमुच अपंग की जिन्दगी बिताता है और यदि दवा का इस्तेमाल कम उम्र से शुरू होता है तो अकाल मृत्यु हो जाती है।

दवा का इस्तेमाल करने वाले खुद तो इनके बुरे प्रभावों के शिकार होते ही हैं साथ ही अपने परिवार की भी दुर्दशा कराते हैं। व्यसनी लोग दवाओं को अवैध स्रोतों और गलत तरीकों से प्राप्त करते हैं जिससे तस्करी और अन्य गैरकानूनी क्रिया-कलापों को बढ़ावा मिलता है। इस प्रकार यह एक सामाजिक समस्या भी है जिससे समुदाय को जूझना और भुगतना पड़ता है।

अभ्यास

1. एल्कोहॉलीय पेयों को जहर क्यों समझा जाता है ?
2. लोग मदिरा क्यों पीते हैं ? ये कारण कहाँ तक ठीक हैं ?
3. एल्कोहॉलीय पेयों के हानिकारक प्रभाव क्या हैं ?
4. स्वयं ही दवाओं का इस्तेमाल शुरू करने के क्या कारण हैं ?
5. दवाओं के बुरे प्रभाव क्या हैं ?

अध्याय-39

औद्योगिक सूक्ष्म जीव विज्ञान

मानव अपने फायदे के लिए रोगाणुओं या सूक्ष्मजीवों (माइक्रोब्स) का उपयोग सदियों से करता चला आ रहा है। शिल्प विज्ञान के इस युग में इनको उद्योगों में सक्रिय कारकों के रूप में इस्तेमाल किया जा रहा है और आसानी से प्राप्त होने वाली सस्ती व कच्ची सामग्री को अच्छे लाभकारी उत्पादों में रूपान्तरित किया जा रहा है। लेकिन ये सूक्ष्मजैविक प्रक्रम आर्थिक दृष्टि से तभी व्यावहारिक हो पाते हैं जब निम्नलिखित दशाएँ अनुकूल होती हैं :

1. **जीव :** प्रयुक्त जीव को इस योग्य होना चाहिए कि वह उस यौगिक को काफी अधिक मात्रा में उत्पन्न कर सके। इसमें तेजी से अधिक वृद्धि करने का गुण भी होना चाहिए।
2. **माध्यम (मीडियम) :** अवस्तर (सबस्ट्रेट) समेत उस माध्यम को सस्ता व आसानी से उपलब्ध होना चाहिए, जिसका रूपान्तरण प्रयुक्त रोगाणु या सूक्ष्मजीव द्वारा किया जाता है। ऐसे प्रक्रमों (प्रोसेस) के लिए अन्य उद्योगों से प्राप्त अपशिष्ट पदार्थ उपयुक्त माध्यम होते हैं।
3. **उत्पाद :** प्रक्रम के उपरान्त प्राप्त होने वाले उत्पाद की उपलब्धि काफी अधिक मात्रा में होनी चाहिए।

रोगाणुओं या सूक्ष्मजीवों का मुख्य उपयोग इन चीजों के निर्माण में होता है—(क) प्रतिजैविक (ऐन्टिबायोटिक्स), (ख) खाद्य पदार्थ तथा पेय, और (ग) विटामिनों, स्टेरॉइड तथा एंजाइमों समेत कार्बनिक रसायनों के निर्माण में।

प्रतिजैविक

प्रतिजैविक या **ऐन्टिबायोटिक** शब्द आज घर-घर का शब्द हो गया है। यह एक ऐसे सूक्ष्मजीव का उपापचयी (मेटाबोलिक) उत्पाद होता है जो अन्य सूक्ष्मजीवों के लिए हानिकारक होता है। ये प्रतिजैविक पदार्थ अपनी क्रियाशीलता के कारण पृथक किए जाने के पहले ही ज्ञात हो गए थे। चीनी लोग फोड़ों के उपचार में *सोयाबीन की फफूंदी वाली दही का प्रयोग* करते थे। पास्चर और जौबर्ट ने ऐंथ्रैक्स के बेसिलस (जीवाणु) को मूत्र में खूब वृद्धि करते हुए पाया लेकिन अन्य सूक्ष्मजीवों की उपस्थिति में वे फिर गायब हो गए।

ग्रेशिया और डाथ (1924) की पहली सुव्यवस्थित खोज के परिणामस्वरूप भूमि-कवकों (ऐक्टिनोमाइसिटीज) के विभेदों (स्ट्रेन) में ऐक्टिनोमाइसीटिन का पृथक्करण हुआ। लेकिन इस यौगिक को कभी भी रोगियों के उपचार में इस्तेमाल नहीं किया गया।

सन् 1929 में ऐलेक्जेंडर फ्लेमिंग ने पाया कि फफूंदी से संदूषित **स्टैफाइलोकोकस ऑरियस** के कुछ

संवर्ध (कल्चर) कम वृद्धि कर पाए। विभिन्न क्षेत्रों के बीच सुस्पष्ट रूप से पृथक् मंडल थे जहाँ पर कि जीवाणु (*बैक्टीरिया*) और फफूँदी की *पेनीसिलियम* स्पिसीज के रूप में पहचान की गई। लेकिन फ्लेमिंग की खोज की संभावनाओं और क्षमताओं को दूसरे महायुद्ध के दौरान ही महसूस किया जा सका, और इंगलैन्ड तथा अमरीका के अनुसंधानकर्त्ताओं के अनथक प्रयत्नों से पेनीसिलिन को अलग किया जा सका। पेनीसिलिन नाम भी पेनीसिलियम के आधार पर ही रखा गया। इस प्रकार यह "संदूषक फफूँदी" "चमत्कारी औषधि" का स्रोत बनी।

इसके बाद तब से अनेक प्रतिजैविक पदार्थ खोजे गए हैं, जिनमें कई आजकल चिकित्सा के लिए प्रयुक्त किए जाते हैं। इनमें सामान्य प्रकार के प्रतिजैविक पदार्थों की सूची उनके उत्पादक जीवों तथा रोगों सहित, परिशिष्ट में दी गई है।

अनेक प्रतिजैविकों के पृथक्करण के बाद भी ये सभी चिकित्सा विज्ञान की दृष्टि से लाभकारी नहीं हैं। वे विशेषताएँ जिनके आधार पर कोई प्रतिजैविक पदार्थ चिकित्सा विज्ञान के लिए उपयोगी होता है निम्नलिखित हैं :

1. ऐसे यौगिक में कई प्रकार के रोगकारी सूक्ष्मजीवों को नष्ट करने या संदमित करने की क्षमता होनी चाहिए। "विस्तृत" प्रतिजैविक का यही मतलब होता है।
2. इसमें परजीवी के प्रतिरोधी प्रकारों के तीव्र परिवर्धन को रोकने की क्षमता होनी चाहिए।
3. इसके द्वारा परपोषी (होस्ट) पर अन्य बुरे प्रभाव नहीं पड़ने चाहिए, जैसे कि संवेदनशीलता या एलर्जी की प्रतिक्रियाएँ, तंत्रिका की क्षति, या वृक्कों (गुर्दों) तथा जठर-आँत्र पथ का उत्तेजन।
4. इसके द्वारा परपोषी के सामान्य सूक्ष्मजैविक वनस्पति जात (फ्लोरा) का नाश नहीं होना चाहिए क्योंकि ऐसा करने से "प्रकृति का संतुलन" गड़बड़ा जाएगा और कुछ रोगकारी जीवाणु पनपने लगेंगे जिनका पनपना 'सामान्य' वनस्पति जात द्वारा रोका जाता है।

मानव-रोगों के उपचार के अतिरिक्त कुछ प्रतिजैविक पदार्थ खाद्य पदार्थों के परिरक्षकों (प्रीज़र्वेटिव) और प्राणियों के भोजन को उपचारित करने के लिए भी इस्तेमाल किए जाते हैं। कुछ प्रतिजैविक पौधों के रोगकारकों (पैथोजेन) के नियंत्रण में भी प्रयुक्त होने लगे हैं। मानव के लिए अनुपयुक्त ग्रिसियोफल्विन सेम के किट्ट रोग (रस्ट) के नियंत्रण में प्रयुक्त होता है। टेट्रासाइक्लीन और स्ट्रेप्टोमाइसिन का अब व्यापक रूप से प्रयोग होता है। इनका अनुप्रयोग (ऐप्लिकेशन) पत्तियों पर या जड़ों पर फुहार के रूप में किया जा सकता है। प्रतिजैविकों का उपयोग कई प्रकार से भोजन के परिरक्षण में भी होता है, विशेष कर ताजा गोश्त और मछली के परिरक्षण में। प्राणियों के आहार में अल्प मात्रा वाले संपूरक भोजन के रूप में प्रतिजैविक उनका परिवर्धन और अच्छी तरह से करते हैं।

प्रतिजैविकों के उत्पादन की सामान्य विधियाँ

सूक्ष्म जीव का संवर्धन निर्जमित (स्टेरीलाइज्ड) माध्यम में किया जाता है, जिसमें कार्बन, नाइट्रोजन, खनिजों व बफरों के स्रोत के अतिरिक्त उत्पादन में वृद्धि करने वाले पूर्ववर्ती (प्रीकर्सर) भी होते हैं। संवर्धन में उन दशाओं को बनाये रखा जाता है जो प्रतिजैविक की वृद्धि और अधिक उत्पादन के अनुकूल होती हैं। उपयुक्त आरम्भक (स्टार्टर) से संरोपण (इनॉकुलेशन) करने के बाद माध्यम को इष्टतम pH और तापमान पर रखा जाता है। अधिक उत्पादन के लिए वायु मिश्रण या वातन (एयरेशन) जरूरी है। प्रतिफेन कारकों द्वारा फेन या झाग बनने पर नियंत्रण रखा जाता है। उत्पादन बढ़ाने के लिए किण्वन (फरमेन्टेशन) के दौरान बीच-बीच में कुछ संघटकों (इनग्रेडिएन्ट) को अल्प मात्रा में मिलाया जा सकता है, जैसे शर्करा, पूर्ववर्ती (प्रीकर्सर) आदि का ताकि वह सूक्ष्मजीव के लिए विषैला न बन जाय।

इस प्रकार से उत्पन्न प्रतिजैविक सामान्यतया माध्यम में उत्सर्जित किए जाते हैं, जो मुक्त शेष (स्पेन्ट) माध्यम में कोशिकाओं और पदार्थों के आयतन की अपेक्षा मात्रा में बहुत कम होते हैं। प्रक्रम के दो चरण होते हैं—पहले

में निस्यंदन यानी छानने या अपकेन्द्रण (सेन्ट्रिफ्यूजिंग) से कवकजाल (माइसीलियम) और कोशिकाओं का निराकरण होता है और दूसरे चरण में विलायक-निष्कर्षण (सौलवेन्ट एक्स्ट्रैक्शन), अधिशोषण या अवक्षेपण द्वारा माध्यम से प्रतिजैविक का निराकरण शुद्ध किए गए उत्पाद को उपयुक्त प्रकार के जीवाणु निस्यन्दकों (बैक्टीरियल फिल्टर) से छानकर पाइरोजेन—मुक्त कर दिया जाता है। फिर इस उत्पाद की क्षमता का जैवआमापन किया जाता है जिसमें तुलना के लिए मानकों (स्टैन्डर्ड) का प्रयोग किया जाता है।

खाद्य पदार्थ और पेय

सदियों से खाद्य पदार्थों और पेयों के निर्माण में सूक्ष्मजीवों ने महत्वपूर्ण रोल अदा किया है। लेकिन बड़े पैमाने पर इनका औद्योगिक उपयोग आधुनिक शिल्प-विज्ञान की ही देन है। ऐसे अनेक उत्पादों में मुख्य हैं—चीज, डबल रोटी, खाद्य खमीर, मट्ठा या छाछ, एल्कोहलीय पेय, सिरका, सोय सॉस आदि।

चीज

एशिया और यूरोप में ईसा के जन्म से काफी पहले ही चीज तैयार की जाती थी। चीज बनाने के लिए भेड़, बकरी, गाय, घोड़ी तथा अन्य जानवरों से प्राप्त दूध का इस्तेमाल किया जाता था। चीज के निर्माण में निम्नलिखित चरण सम्मिलित हैं :

(क) ताजे दूध में रेनेट समेत लैक्टिक एसिड बैक्टीरिया डालकर दूध को जमाना (रेनेट में रेनिन नामक एंजाइम होता है, और इसे गाय के आमाशय या पेट से प्राप्त किया जाता है)। स्कंदन या जमाने से तैयार किया गया पदार्थ द्रवीय अंश या छेने के पानी (ह्वे) से अलग कर लिया जाता है।

(ख) नमी अलग करने के लिए जमे पदार्थ का फिर संसाधन किया जाता है। यदि इस अवस्था में चीज का इस्तेमाल होता है तो इसे काटेज चीज (पनीर) कहते हैं।

(ग) लवणन (साल्टिंग) अगला चरण है। यह कार्य सतह को नमक से रगड़ कर और नमक के पानी में चीज को डुबोकर किया जाता है। लवण द्वारा दो कार्य होते हैं · एक तो, इससे नमी और कम कर दी जाती है और दूसरे, अवांछित सूक्ष्मजीवों की वृद्धि नहीं हो पाती।

(घ) चीज बनाने के लिए जमे दूध का 'पक्वन' एक विशेष कक्ष में किया जाता है, जिसे उचित तापमान तथा नमी पर रखा जाता है। बनाई जाने वाली चीज के विभिन्न प्रकारों के अनुसार किण्वन (फरमेन्टेशन) करने वाले सूक्ष्मजीव जमाने वाली या इस अवस्था में लैक्टिक एसिड बैक्टीरिया के साथ मिला दिए जाते है। इससे चीज की हर किस्म अपनी अलग सुवास और स्वाद वाली हो जाती है। ये सूक्ष्मजीव प्रोटीनलयी (प्रोटियोलिटिक) तथा वसालयी (लाइपोलिटिक) क्रियाशीलता को उत्प्रेरित करते है। पक्वन अवधि 1 महीने से लेकर 16 महीने तक की होती है। चीज बहुत अधिक पोषक होती है क्योंकि इसमें 20 से 30% वसा, 20 से 35% प्रोटीन और अल्प मात्रा में खनिज होते है।

ब्रेड या डबल रोटी बनाना

डबल रोटी का किण्वन करने के लिए खमीर (यीष्ट) का उपयोग यहूदियों, यूनानियों और रोमनों द्वारा बहुत पहले से होता रहा है। यह विधि आज भी प्रचलित है, जिसमें बस जरा सा परिवर्तन हुआ है। आटे की लोई में *सैक्केरोमाइसीज सेरीविसिई* के चुने विभेद (स्ट्रेन) मिला दिए जाते हैं। किण्वन से कार्बन डाइऑक्साइड गैस बनती है जो लोई के अन्दर से ऊपर उठती है और इच्छित गठन तथा सुवास ले आती है।

खाद्य खमीर

मानव के लिए खमीर बहुत अधिक पोषण प्रदान करने वाला पदार्थ है, जिसे संपूरक खाद्य के रूप में प्रायः ही इस्तेमाल किया जाता है। यह बी विटामिनों और प्रोटीनों (कुल पदार्थ का 40 से 50%) का बहुत अच्छा स्रोत है। खाद्य खमीर निसवन उद्योग (ब्रुइंग इन्डस्ट्री) के उप-उत्पाद के रूप में प्राप्त होती है और इसे शीरे, शर्करा, आलू तथा अन्य किण्वन योग्य कार्बोहाइड्रेट वाले माध्यमों में भी संवर्धित किया जाता है। कागज और लुगदी के निर्माण में सेलुलोज के अतिरिक्त अन्य कार्बोहाइड्रेटों वाली अपशिष्ट सल्फाइट लिकर खमीर की टोरूलोप्सिस युटिलिस नामक जाति के संवर्धन के लिए उपयुक्त

माध्यम होती है। ऐसे माध्यमों में खमीर को तब तक संवर्धित किया जाता है जब तक कि अधिकतम कोशिकाओं का उत्पादन नहीं हो जाता। इसके बाद इसे एकत्र करके धोया, सुखाया व बाजार में पहुँचा दिया जाता है।

मट्ठा और दही

हमारे देश में ये पदार्थ या उत्पाद सामान्यतया घरों में बनाए जाते हैं लेकिन पश्चिमी देशों में इनका उत्पादन बड़े पैमाने पर करके इन्हें दुकानों पर बेचा जाता है। मट्ठे के लिए आरम्भक संवर्धन के रूप में **स्ट्रेप्टोकोकस लैक्टिस या स्ट्रे० क्रीमोरिस** और **ल्यूकोनोस्टक सिट्रोवोरम या ल्यू० डेक्स्ट्रेनम** का इस्तेमाल किया जाता है। बाद वाले आरम्भक पदार्थों से वाष्पशील अम्ल तथा उदासीन उत्पाद बनते हैं, जिससे मट्ठे का अपना एक अलग स्वाद हो जाता है। दही के आरम्भक संवर्धों में **स्ट्रेप्टोकोकस थर्मोफिलस** और **लैक्टोबेसिलस बल्गेरिकस** होते हैं।

एल्कोहॉलीय पेय

एल्कोहॉलीय पेय शर्कराओं में खमीर वाले किण्वन से बनाए जाते हैं। पेय को एक विशेष सुवास व स्वाद देने के लिए सामान्यतया विभिन्न कार्बोहाईड्रेट स्रोतों का प्रयोग किया जाता है, जैसे बीयर (जौ—माल्ट), वाइन (अंगूर) आदि में। सामान्यतया प्रयुक्त होने वाली यीस्ट या खमीर सैक्केरोमाइसीज सेरीविसिई है। जीवरासायनिक अभिक्रिया नीचे लिखे प्रकार से दी जाती है।

$$C_6H_{12}O_6 \xrightarrow[\text{एंजाइम}]{\text{यीस्ट (खमीर)}} 2C_2H_5OH + CO_2$$
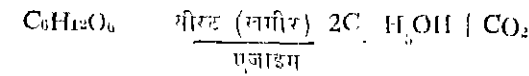
ग्लूकोज एथिल एल्कोहॉल + कार्बन डाईऑक्साइड

एल्कोहॉलीय पेयों के अलावा इस प्रक्रिया से किसी भी किण्वनीय कार्बोहाइड्रेट से एथिल एल्कोहॉल भी निर्मित किया जाता है। स्रोत के रूप में यदि मंड पदार्थ का प्रयोग होता है तो इनका पहले सरल शर्कराओं में जलापघटन (हाईड्रोलाइज़ेशन) होना चाहिए और यह जौ माल्ट, फफूंदियों या अम्लित माध्यम के ताप-उपचार द्वारा सम्पन्न किया जाता है। इसमें कच्ची सामग्री के रूप में आलू, शीरे, अपशिष्ट सल्फाइट लिकर व काष्ठ शर्कराओं का प्रयोग किया जाता है। इसके निर्माण की योजना चित्र 39.1 में दिखलाई गई है।
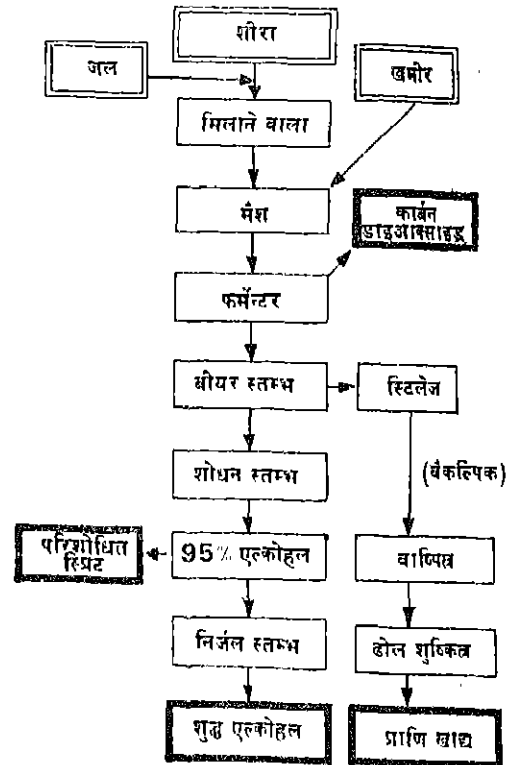
चित्र 39.1 : शीरे से एल्कोहॉल के निर्माण का सरलीकृत प्रक्रम चित्र (फ्लो शीट)।

सिरका

सिरका वह मसाला है जो दो चरण वाली किण्वन-प्रक्रिया द्वारा शर्करा युक्त या मंडयुक्त पदार्थ से बनाया जाता है। पहले यीस्ट-किण्वन से शर्करा वाला या मंड वाला पदार्थ एल्कोहॉल में बदल दिया जाता है और फिर एसीटिक अम्ल वाला किण्वन (फरमेन्टेशन) होता है। फ्रांसीसी भाषा में 'विनेगर' शब्द का शाब्दिक अर्थ है "खट्टी वाइन"। यह जिस उत्पाद से प्राप्त होता है उसी के आधार पर इसका नाम रखा जाता है, जैसे सेब का आसव (साइडर) या सेब का सिरका, वाइन या अंगूर का सिरका, माल्ट विनेगर आदि। यद्यपि सिरके को मेज

हजारों साल पहले से जानते हैं, लेकिन लोगों को यह मालूम नहीं था कि यह रोगाणुओं या सूक्ष्मजीवों (माइक्रोब) के द्वारा बनता है। सन् 1837 में कुट्जिंग ने खोज करके इस बात को उद्घाटित किया। बाद में सन् 1868 में पास्तेर ने शरीर क्रियात्मक प्रकिया के रूप में इसकी पुष्टि की।

सिरके के निर्माण में यीस्ट या खमीर (**सैक्करोमाइसीज सेरीविसिई** की किस्में) द्वारा अवस्तर या सब्स्ट्रेट का एल्कोहॉलीय किण्वन होता है। किण्वन पूरा हो चुकने के बाद **निःसादन** (सेटलिंग) द्वारा यीस्ट की लुगदी और अन्य तलछट अलग कर ली जाती है। ऊपर वाले द्रव का किण्वन एसीटिक बैक्टीरिया के द्वारा होता है। इसमें इष्टतम एल्कोहॉलीय सांद्रता 10-13% होती है। अभिक्रिया निम्नलिखित प्रकार से सम्पन्न होती है :

$$CH_3CH_2OH + \frac{1}{2}O_2 \rightarrow CH_3CHO + H_2O$$

इथेनोल → ऐसीटेल्डीहाइड

$$CH_3CHO + \frac{1}{2}O_2 \rightarrow CH_3COOH$$

ऐसीटेल्डीहाइड → एसीटिक अम्ल
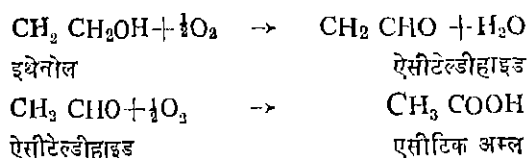
सिरके का किण्वन तब तक चलने दिया जाता है जब तक कि अधिकतम सांद्रता नहीं हो जाती। फिर आगे होने वाले अवक्रमण को रोकने के लिए द्रव को अवायवीय प्रकार से जमा करके रखा जाता है। भंडारण के दौरान काल-प्रभावन (एजिंग) होता है, ईस्टर बनते हैं और कड़ा स्वाद गायब हो जाता है। फिर छान कर सिरका साफ कर लिया जाता है, और उसका पास्तेरीकरण करके बोतलबंदी कर ली जाती है।

कार्बनिक रसायन और एंजाइम

सूक्ष्मजीवों के प्रयोग से कई कार्बनिक रसायनों को औद्योगिक रूप से उत्पन्न किया जाता है। इनमें मुख्य हैं—कार्बनिक अम्ल, विटामिन व विटामिनों के पूर्ववर्ती (प्रीकर्सर), डेक्स्ट्रैन, स्टेरॉइड, और एंजाइम।

1. कार्बनिक अम्ल

कुछ सामान्य प्रकार के कार्बनिक अम्ल औद्योगिक रूप में सूक्ष्मजीवों द्वारा तैयार किए जाते हैं। इस संदर्भ में एसीटिक अम्ल-किण्वन (देखो सिरका) का वर्णन पहले किया जा चुका है। किण्वन प्रक्रियाओं द्वारा तैयार किए जाने वाले व्यापारिक महत्व के अन्य अम्लों की सूची अनुप्रयोग सहित, सारणी 39.1 में दी गई है।

2. विटामिन और विटामिनों के पूर्ववर्ती (प्रीकर्सर)

विटामिन बी (B) के स्रोत के रूप में खाद्य खमीर का वर्णन पहले ही किया जा चुका है। इसके अलावा, विटामिन बी$_{12}$ यानी जल में घुलने वाला कोबलमिन नामक विटामिन भी सूक्ष्मजीवों द्वारा उत्पन्न होता है। विटामिन बी$_{12}$ मुख्यतया जीवाणुओं (बैक्टीरिया) और ऐक्टिनोमाइसिटीज द्वारा उत्पन्न होता है, जबकि फफूंदियाँ और खमीर नहीं। व्यापारिक स्तर पर इस्तेमाल होने वाले जीव हैं **स्ट्रेप्टोमाइसीज ओलिवेसियस** और **बैसिलस मेगाथीरियम** जो *कार्बन स्रोत* वाले मक्का-शर्करा या मक्के की चाशनी अथवा ईख के शीरे के माध्यमों में उगाए जाते हैं। विटामिन का *सान्द्रण कोशिकाओं में होता है। अधिकतम वृद्धि के बाद* कोशिकाओं को अपकेन्द्रण (सेन्ट्रीफ्यूगेशन), निस्यन्दन (छानने) अथवा निथारने से बटोर लिया जाता है और फिर सुखा कर या बिना सुखाए हुए प्राणियों के संपूरक खाद्य या चारे के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। चिकित्सा के प्रयोजन के लिए 100° सेंटीग्रेड पर कोशिकाओं के स्वलयन (ऑटोलिसिस) से विशुद्ध विटामिन की प्राप्ति की जाती है, जबकि विटामिन जलीय अवस्था में निकलता है और जहाँ से उसे सान्द्रित करके शुद्ध कर लिया जाता है। विटामिन बी$_{12}$ (B_{12}) प्राणि खाद्य को संपूरित करने, तथा मानव में अरक्तता (ऐनीमिया) का उपचार करने और भूख खोलने में प्रयुक्त किया जाता है।

राइबोफ्लेविन (विटामिन बी$_2$)—कई सूक्ष्मजीवों से तैयार किया जाता है, जैसे कि खमीरों (यीस्टों), यीस्ट जैसे सूक्ष्मजीवों (**ऐशबिया गौसिपियाइ, एरीमोथीसियम** ऐशबियाई) तथा जीवाणुओं के द्वारा। व्यापारिक स्तर पर यह **ऐ० गौसिपियाई, ए० ऐशबियाई, क्लोस्टेरीडियम ब्यूटाइरिकम** और **क्लो० एसीटो ब्यूटाइलिकम** से तैयार किया जाता है। अवस्तर से राइबोफ्लेविन ब्यूटेनोल के साथ विलायक निष्कर्षण विधि से, मुल्तानी मिट्टी अथवा सिलिकाजेल में अधिशोषण की विधि से प्राप्त किया जाता है। शुद्ध रूप में यह कड़वा,
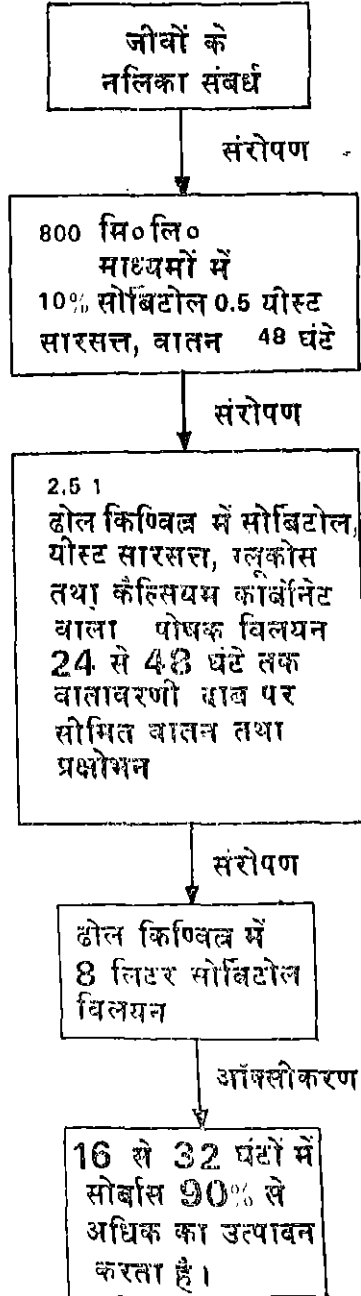
चित्र 39.2 : सॉर्बिटोल से सोर्बोस के उत्पादन का प्रक्रम चित्र।

गंधहीन, रवेदार, पीले नारंगी रंग का चूर्ण होता है। मानव के लिए वृद्धि और जनन के लिए राइबोफ्लेविन जरूरी है। एस्कोर्बिक अम्ल का पूर्ववर्ती (प्रीकर्सर) एल-सोर्बोज (L-Sorbose) व्यापारिक स्तर पर जैविक डिहाईड्रोजनीकरण (डी हाईड्रोजनेशन) द्वारा डी-सौर्बिटोल (D-Sorbitol) द्वारा तैयार किया जाता है। जो जीव इस प्रकार का रूपांतरण करते हैं वे ऐसीटोबैक्टर के विभिन्न प्रकार हैं। उत्पादन का प्रक्रम-चित्र (फ्लो चार्ट) चित्र 39.2 में दिया गया है। एल-सोर्बोज (L-Sorbose) को फिर विटामिन सी (C) के निर्माण में इस्तेमाल किया जाता है।

3. डेक्स्ट्रैन

आयुर्विज्ञान में डेक्स्ट्रैन विशेष महत्व के पदार्थ हैं क्योंकि ये रुधिर प्लाज्मा आयतनवर्धी (एक्सटेन्डर) के रूप में प्रयुक्त होते हैं। ये डी-ग्लूकोज (D-Glucose) के बहुलक या पौलीमर और पोलीग्लूकुसैन भी हैं। डेक्स्ट्रैन किण्वन प्रक्रियाओं या डेक्स्ट्रैनशुक्रेस नामक एंजाइम के उपयोग से भी तैयार किए जा सकते हैं, जो कि खुद भी व्यापारिक स्तर पर सूक्ष्मजीवों से प्राप्त किया जाता है। एंजाइमीय प्रक्रिया से यह फायदा है कि इससे चिकित्सीय उपयोग के लिए उपयुक्त आणविक भार वाले डेक्स्ट्रैन को सीधे ही काफी कुछ मात्रा में तैयार किया जा सकता है। औद्योगिक रूप में ल्यूकोनास्टक मेसेन्टेरॉइडीज को उपयुक्त आणविक आकार वाले डेक्स्ट्रैन में तैयार करने में प्रयुक्त किया जाता है।

4. स्टेरॉइड

स्टेरॉइड जटिल कार्बनिक अणु हैं जिनमें मानव के हॉरमोन और कार्टिसोन शामिल हैं। परिवार-नियोजन तथा असाध्य रोगों के उपचार में इनका बहुत इस्तेमाल हो रहा है। ये स्टेरॉइड रसायनों और सूक्ष्मजैविक विधियों के संयोग से बनाए जाते हैं। प्रोजेस्टरोन को अन्य स्टेरॉइडों में रूपांतरित किया जा सकता है और प्रयुक्त सूक्ष्मजीव के प्रकार के आधार पर सही उत्पाद का निर्धारण किया जाता है (चित्र 39·3)।

5. एंजाइम

रोगाणु या सूक्ष्मजीव भी विभिन्न एंजाइमों के स्रोत हैं, जिनका उद्योगों में व्यापक रूप से प्रयोग होता है।
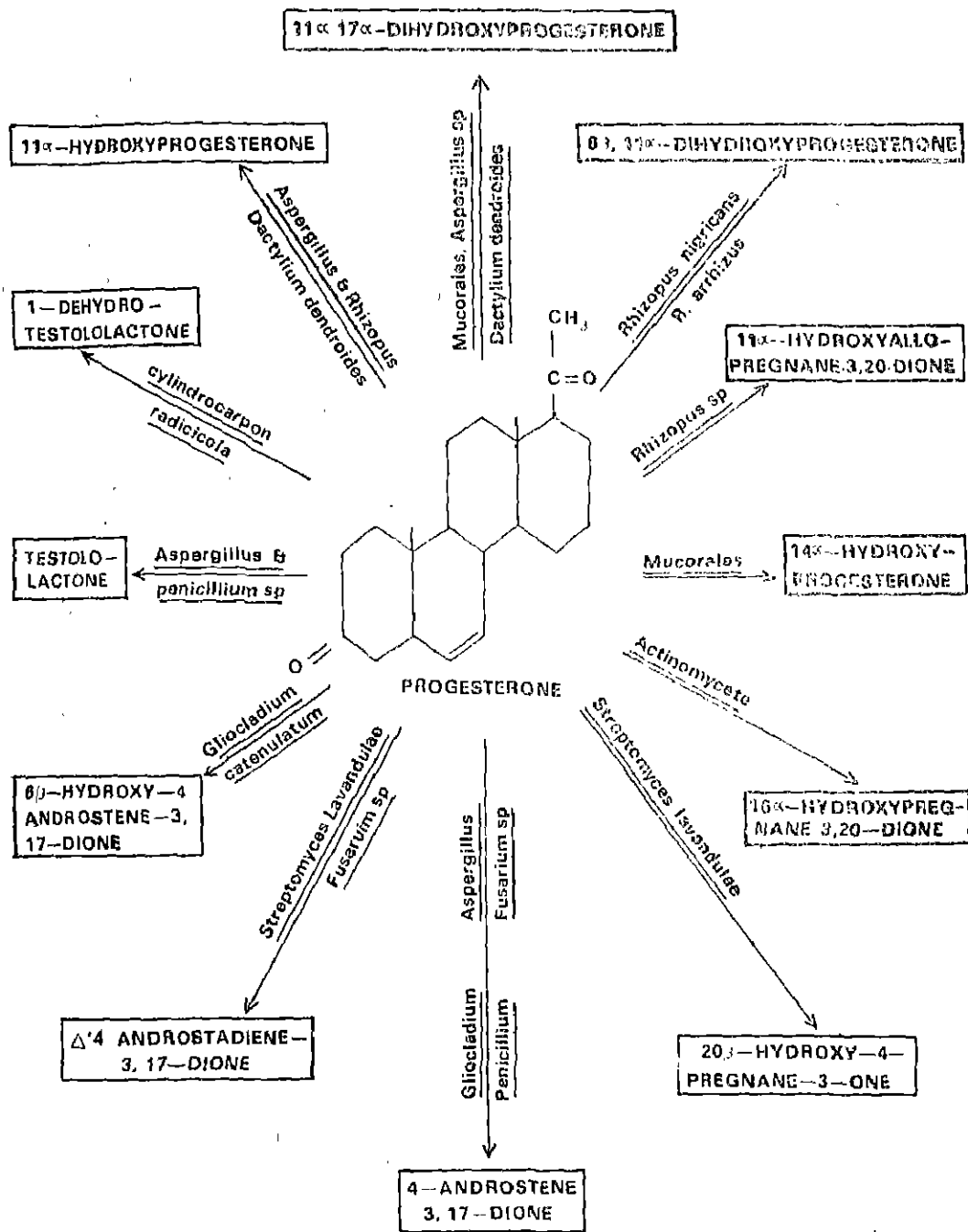
चित्र 39.3 : सूक्ष्मजैविक रूपान्तरण द्वारा प्रोजेस्टरोन से उत्पन्न कुछ स्टेरॉइड।

इनमें से सबसे आम उपयोग है लैक्टिक और एसीटिक अम्ल बनाने में। औद्योगिक सूक्ष्मजीवविज्ञान के उपयोग वाले अन्य प्रक्रमों से प्राप्त अपशिष्ट पदार्थों को लैक्टिक अम्ल के निर्माण में कच्ची सामग्री के रूप में इस्तेमाल किया जाता है, जैसे कि छेने का पानी (ह्वे) जो कि चीज़ के निर्माण में अपशिष्ट के रूप में बच रहता है। व्यापारिक स्तर पर तैयार किए जाने वाले सूक्ष्मजैविक एंज़ाइम और उनके उपयोग सारणी 39·2 में दिए गए हैं।

सारणी 39.1

औद्योगिक रूप में सूक्ष्मजीवों से तैयार किए जाने वाले कार्बनिक अम्ल और उनके उपयोग

अम्ल	जीव	कच्ची सामग्री	अनुप्रयोग
1. लैक्टिक अम्ल	**लैक्टोबैसिलस डेलब्रूकिआई लै० बलगेरिकस** तथा **स्ट्रेप्टोकोकस लैक्टिस**	अम्ल द्वारा जल अपघटित, मक्का-मंड या आलू, छेने का पानी, शीरा, अपशिष्ट सल्फाइट लिकर, तथा प्रयुक्त जीवों के अनुसार पोषक पदार्थ।	लैक्टिक अम्ल की खायी जाने वाली किस्म का प्रयोग कनफेक्शनरी के सारसत्त, फलों के रस, सार, लेमोनेड, अचार, मांस के संसाधन, डब्बे में बन्द सब्जियों, व मछली के उत्पादों मे होता है जहाँ उसे परिरक्षक के रूप में इस्तेमाल किया जाता है। उसे फेनिल पेयों के निर्माण, रेशम व अन्य वस्त्रों को रंगने, गरम कपड़ों की छपाई में रंगबंधक के रूप में, चमड़ा उद्योग में खाल के विचूर्णन (डिप्लाइमिंग), तथा चमड़ा कमाने, टाँके के फ्लक्स के रूप में, प्लैस्टिक उद्योग में प्रयुक्त किया जाता है। लैक्टिक अम्ल के लवणों का भी व्यापक रूप से उपयोग किया जाता है।
2. एसीटिक अम्ल	**ऐसीटोबैक्टर** स्पी०	फल, शर्करा जिसमें चाशनी और जलअपघटित मंड पदार्थ होता है।	एसीटिक अम्ल का सिरके तथा अन्य औद्योगिक पदार्थों के निर्माण में उपयोग होता है।
3. साइट्रिक अम्ल	**ऐस्पर्जिलस नाइगर**	शर्करा	(i) दवाइयों में, (ii) सुवास वाले सारसत्तों में, (iii) खाद्य पदार्थों व कैण्डी में, (iv) स्याही बनाने में, (v) रंगाई में, (vi) नक्काशी में।
4. ग्लूकोनिक अम्ल	**ऐ० नाइगर, पेनीसिलियम पर्प्यूरोजीनम** तथा **पे० क्राइसोजेनिम**		(i) औषधियों में। (ii) कैल्शियम ग्लूकोनेट शिशुओं व गर्भिणी स्त्रियों के पोषण में कैल्शियम के स्रोत के रूप में तथा अधिक उत्पादन करने वाली डेयरी की गायों में दुग्ध-ज्वर (मिल्क-फीवर) का उपचार करने में काम आता है।
5. 5-केटो ग्लूकोनिक अम्ल	**ऐसीटोबैक्टर सबआक्सीडेन्स**	ग्लूकोस	टार्टरिक अम्ल का मध्यवर्ती
6. 2-केटो ग्लूकोनिक अम्ल	स्यूडोमोनास स्पी०	ग्लूकोस, ग्लूकोनिक अम्ल	डी-ऐरेबोऐस्कोर्बिक अम्ल का मध्यवर्ती

सारणी 39.2

सूक्ष्मजैविक एंजाइम और उनके अनुप्रयोग

एंजाइम	जीव	अनुप्रयोग
1. एमिलेस	बैसिलिस सबटिलिस, बै० मैसरेन्स, बै० पोलिमिआ ऐस्पजिलस नाइगर, ऐ० ओरिजी, राइज़ोपस ओरिज़ी	α एमिलेस—(i) मंड का द्रवण तथा शर्करीकरण (ii) चाकलेट की चाशनी के गाढ़ेपन में कमी। (iii) मंड से फल के रस में गंदलापन हो जाने से उसकी सफाई। (iv) वस्त्रों का विचिक्कणन (डीसाइजिंग), (v) कागज़ का चिक्कणन (साइजिंग) (vi) वस्त्रों का चिक्कणन तथा विचिक्कणन β एमिलेस—(i) मक्के की चाशनी बनाना, (ii) बेकरी-उद्योग में डो (dough) का रूपांतरण, (iii) पाचक एंजाइमों की कमी को पूरा करना।
2. साइटेस	बै० सबटिलिस	
3. सेलुलेस	माइरोथिसियम वेरुकेरिया	
4. डेक्स्ट्रैन सुक्रेस	ल्यूकोनास्टक मेसेन्टेरॉइडीज़	डेक्स्ट्रैन का उत्पादन, फ्रक्टोस का उत्पादन।
5. ग्लूकोस आक्सिडेस (नोटेटिन या पीला एंजाइम)	पेनीसिलियम नोटेटम	ग्लूकोस की उपस्थिति में ऑक्सीजन का निराकरण, खाद्य उत्पादों से ग्लूकोस का निराकरण (जैसे सूखने से पहले अंडे)
6. इनवर्टेस	सैकेरोमाइसीज़ सेरीविसिई, सै० एक्सिगुअस	कैन्डी में मृदु केन्द्रों का निर्माण
7. लैक्टेस	सै० फ्रेजिलिस, टोरुला क्रीमोरिस	डेयरी-उत्पादों में, जैसे कि आइसक्रीम, संसाधित चीज आदि में, बालू-जैसे किरकिरेपन से बचाव।
8. लाइपेस	कैन्डिडा लिपोलिटिका, ऐ० लुचुएन्सिस	पास्तेरीकृत दूध से चीज़ बनाना।
9. पेक्टिनेस	बाइसोक्लैमिस फल्वो	(i) फलों के रस और एंजाइमों की सफाई। (ii) हरी कॉफी का निर्माण (iii) फलों के उत्पादों के छानने में तेजी लाना। (iv) सन के निर्माण में आतसी (फ्लैक्स) का गलाना।
10. पेनीसिलिनेस	बा० ब्रेविस, ऐक्टिनोमाइसीज कैन्डिडस	पेनीसिलिन की प्रतिजैविक क्रिया की समाप्ति।
11. प्रोटिएस	मोर्टिएरैला रेनीस्पोरा	(i) केसीन, लैक्टेलबुमेन, जिलेटीन तथा अन्य प्रोटीनों का द्रवण तथा जल अपघटन (ii) जिलेटिन के साइज़ों की समाप्ति। (iii) बीयर को अतिशीत सह बनाना। (iv) भीगी खाल से बाल छुड़ाना। (v) दाग अलग करना। (vi) द्रवीय गोंद का निर्माण। (vii) रेशम को गोंद रहित करना।

अभ्यास

1. प्रतिजैविकों (एन्टिबायोटिकों) के उन सामान्य गुणों का विवेचन करो जो उन्हें चिकित्सा के लिए उपयोगी बनाते हैं।
2. निम्नलिखित पदार्थों के निर्माण से सम्बद्ध सूक्ष्मजीवों के नाम बतलाओ।
   (1) सिरका (2) एल्कोहॉल (3) टैट्रासाइक्लीन (4) साइट्रिक अम्ल ।
3. रोगाणु या सूक्ष्मजीव उद्योगों के अपशिष्ट पदार्थों का उपयोग करके हमारी मदद करते हैं—इस कथन की पुष्टि करो ।
4. दूध के उत्पादों के संसाधन में सूक्ष्मजीवों के उपयोगों का वर्णन करो।
5. 'खाद्य तथा पेय उद्योग में खमीर' विषय पर लघु निबन्ध लिखो।
6. निम्नलिखित पदार्थों के निर्माण और उपयोगों पर टिप्पणियाँ लिखो : (क) दही, (ख) डेक्स्ट्रैन, (ग) स्टेरॉइड ।

परिशिष्ट

कुछ सामान्य प्रतिजैविक, उनको उत्पादित करने वाले जीव और जीव जिनके प्रति ये क्रियाशील होते हैं

प्रतिजैविक	उत्पाद करने वाला जीव	संवेदनशील जीव
1. पेनीसिलिन	पेनीसिलियम नोटेटम	ग्रैम-ग्राही बैक्टीरिया, नेसेरिया, स्पाइरोकीटिओ, ऐक्टिनोमाइ-सिटीज, क्लोस्ट्रीडिया, कोराइनबैक्टीरियम डिप्थीरिई ।
2. स्ट्रेप्टोमाइसिन	स्ट्रेप्टोमाइसीज ग्रिसियस	ग्रैम-ग्राही और ग्रैम अग्राही बैक्टीरिया, माइकोबैक्टीरियम ट्यूबर-कुलोसिस, ऐक्टिनोमाइसिटीज
3. बेसिट्रेसिन	बैसिलस लाइकेनीफार्मिस	ग्रैम-ग्राही (ग्रैम पाजिटिव) बैक्टीरिया, क्लोस्ट्रीडिया, ट्रेपोनीमा हिस्टोप्लाज्मा कैप्सुलेटम ।
4. क्लोरामाइसीज वेनेजुएली	स्ट्रेप्टोमाइसीज वेनेजुएली	ग्रैम-ग्राही और ग्रैम-अग्राही (ग्रैम नेगेटिव) बैक्टीरिया, रिकेट्सी तथा बड़े वाइरस, एन्डोमीबा, बोरेलिया, ऐक्टिनोमाइसीज बोरिस,
5. क्लोरोटेट्रा-साइक्लीन	स्ट्रेप्टोमाइसीज ऑरियोफेसिएन्स	ग्रैम-ग्राही और ग्रैम-अग्राही ओरियोफेसिएन्स बैक्टीरिया, रिकेट्सी और बड़े वाइरस ।
6. टेट्रासाइक्लीन	क्लोरोटेट्रासाइक्लीन का उत्प्रेरक हाइड्रोजनीकरण (कैटालिटिक हाइड्रोजनेशन)	क्लेबसिएला न्यूमोनिई, एक प्रकार का स्ट्रेप्टोकोकस नाइटिस; साल्मोनेला टाइफोस, पास्चूरेला मल्टोसिडा, कुछ स्टेफाइलो-कोकस ।
7. एरिथ्रोमाइसीन	स्ट्रेप्टोमाइसीज एरिथीरियस	ग्रैम-ग्राही बैक्टीरिया, कुछ ग्रैम-अग्राही बैक्टीरिया, रिकेट्सी और बड़े वाइरस ।